

No - 057547

Lo 43.14



# श्रमणा

वर्ष २४

शुभारंभ  
का अनुवाद

फ  
र  
व  
री



१  
६  
७  
३

अंक ४

—बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा मान्य जैन शोध-केन्द्र—

## पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

### जैन इंस्टिट्यूट

आई. टी. आई. रोड, वाराणसी-४

सम्पादक

डा० मोहनलाल मेहता

सह-सम्पादक

श्री हरिहर सिंह

श्री धन्यकुमार राजेश

प्रस्तुत अंक में :

१. महावीर-वाणी— १
२. पुनर्जन्म-सिद्धान्त की सर्वव्यापकता—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री ३
३. पउमत्ररिउ और रामचरित मानस: एक अध्ययनात्मक तुलना  
—डा० देवेन्द्रकुमार जैन ११
४. अशुतोष म्युजियम में नागौर का एक सचित्र विज्ञप्तिपत्र  
—श्री अगरचंद भंवरलाल नाहटा १५
५. प्राचीन जैन ग्रंथों में कृषि—डा० अच्छेलाल
६. राष्ट्रभाषा के आद्यजनक भगवान् महावीर  
—श्री रतिलाल म० शाह
७. विश्वेश्वरकृत शृंगारमञ्जरी-सट्टक का अनुवाद  
(गतांक से आगे)—डा० के० आर० चन्द्र
८. साहित्य सत्कार—

वार्षिक

एक प्रति

छ: रुपये

पचास पैसे

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हो।



जैनविद्या का मासिक

वर्ष २४

फरवरी १९७३

अंक ४

## महावीर-वाणी

( १ )

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।

सुक्कलेसा य छट्ठा, नामाइं तु जहक्कमं ॥

कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल—ये लेश्याओं के कमशः  
छः नाम हैं ।

( २ )

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।

एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जइ ॥

कृष्ण, नील, कापोत—ये तीन अधर्म-लेश्याएँ हैं । इन तीनों से युक्त  
जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है ।

( ३ )

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।

एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जइ ॥

तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म-लेश्याएँ हैं । इन तीनों से युक्त जीव  
सद्गति में उत्पन्न होता है ।

( ४ )

अट्ट पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य ।  
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ॥

पाँच समिति और तान गुप्ति—इस प्रकार आठ प्रवचन-माताएँ कहलाती हैं ।

( ५ )

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय ।  
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्टमा ॥

ईर्षा, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उच्चार—ये पाँच समितियाँ हैं । तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ हैं । इस प्रकार दोनों मिलकर आठ प्रवचन-माताएँ हैं ।

( ६ )

एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।  
गुत्ती नियत्तणे वृत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥

पाँच समितियाँ चारित्र्य की दया आदि प्रवृत्तियों में काम आती हैं, और तीन गुप्तियाँ सब प्रकार के अशुभ व्यापारों में निवृत्ता होने में सहायक होती हैं ।

( ७ )

एसा पवयणमाया, जे समं आयरे मुणी ।  
से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥

जो विद्वान् मुनि उक्त आठ प्रवचन-माताओं का अच्छी तरह आचरण करता है, वह शीघ्र ही अखिल संसार से सदा के लिए मुक्त हो जाता है ।



# पुनर्जन्म-सिद्धान्त की सर्वव्यापकता

श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री

भारतीय कथा-साहित्य में पुनर्जन्म की (जातक) कथाओं का एक विशिष्ट स्थान रहा है। पूर्वजन्म की कथा आत्मा के पूर्वकालिक अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण है। पुनर्जन्म की कथाएँ तभी सम्भव हैं जब आत्मा और उसकी देह प्राप्ति की विभिन्न अवस्थाएँ सिद्धान्ततः स्वीकार की जायें। प्रस्तुत सिद्धान्त पूर्व वैदिक चिन्तन में विशेष स्थान नहीं रखता, क्योंकि उसके चिन्तन का मुख्य केन्द्र ऐहिक जीवन था। ऐहिक जीवन की सुख सुविधा के लिए याग और अनुष्ठान अनिवार्य माना गया। उसी के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया गया। यही कारण है कि उपनिषदों से से पूर्व वैदिक साहित्य में आत्मा, पुनर्जन्म, परलोक प्रभृति विषयों पर विस्तार से चर्चा नहीं की गयी है। आत्मा शब्द ऋग्वेद आदि में भी व्यवहृत हुआ है।<sup>१</sup> किन्तु उसके अर्थ का विकास क्रमशः हुआ है। यद्यपि वेदों के कुछ शब्दों को खींचतान कर विद्वान् उनसे पुनर्जन्म, मोक्ष, आत्मा, परमात्मा आदि अर्थ लगाते हैं, जैसे—‘अपाङ् प्राङ् एति स्वधया’<sup>२</sup> इस मंत्र से अपाङ् का पूर्वजन्म एवं प्राङ् का अगला जन्म अर्थ किया जाता है। वैसे ही ‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया’<sup>३</sup> से दो पक्षी एक आत्मा और दूसरा परमात्मा अभिधेय समझा जाता है। किन्तु स्पष्ट रूप से पूर्वजन्म व पुनर्जन्म की चर्चा कहीं विशेष नहीं मिलती। उपनिषदों में आकर आत्म-तत्त्व ब्रह्म के समकक्ष परम सत्त्व के रूप में चर्चित है, जैसे बृहदारण्यक में इसका अर्थ शरीर है।<sup>४</sup> वहीं पर ( ३.२.१३ ) वह शैयत्तिक आत्मा को

१. १.११५.१; १०.१०७.७.

२. वही, १.१६४.३८.

३. वही, १.१६४.२०.

४. बृहदारण्यकोपनिषद्, १.१.१.

उद्दिष्ट करता है और फिर यत्र-तत्र परमतत्त्व के अर्थ में इसका प्रयोग होता है ।<sup>५</sup>

ए. ए. मैकडोनल वैदिक माइथोलॉजी में लिखते हैं—‘ऐसा विश्वास किया जाता है कि अग्नि अथवा ‘शवगर्त’ ( कब्र ) केवल मृत शरीर को भिन्नष्ट करते हैं क्योंकि मृत व्यक्ति के वास्तविक व्यक्तित्व को अनश्वर ही माना गया है । प्रस्तुत वैदिक धारणा उस पुरातन विश्वास पर आधृत है कि आत्मा में शरीर से अपने को अचेतन अवस्था तक में पृथक् कर लेने की शक्ति होती है और व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है । एतदर्थ एक सम्पूर्ण सूक्त में ( १०.५८ ) प्रत्यक्षतः मृतवत् पड़े हुए सुप्त व्यक्ति की आत्मा ( मनस् ) से बाहर भ्रमण कर रहे स्थानों से पुनः शरीर में लौट आने की स्तुति की गई है । बाद में विकसित पुनर्जन्म के सिद्धान्त का वेदों में कहीं भी संकेत नहीं मिलता किन्तु शतपथ-ब्राह्मण ( १०.४.३ ) में एक उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् संस्कारादि नहीं करते, वे मृत्यु के पश्चात् जन्म लेते हैं और पुनः-पुनः मृत्यु के गुलाम बनते हैं ।<sup>६</sup>

उपनिषदों में आत्मा की अमरता के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से विचार-चर्चा की गयी है, किन्तु पुनर्जन्म के सम्बन्ध में जितनी विस्तार से चर्चा अपेक्षित थी उतनी नहीं की गयी । कठोपनिषद् के यम-नचिकेता संवाद में कुछ मंत्रों से यह संकेत अवश्य मिलता है । आत्मा अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार अन्यान्य योनियों में जन्म ग्रहण करता है ।<sup>७</sup>

उपनिषदों के पश्चात् के जितने भी आस्तिक दर्शन हैं उन सभी ने आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है और पुनर्जन्म की भी यत्र-तत्र चर्चा

५. वैदिक कोश, पृ० ३६.

६. वैदिक माइथोलॉजी ( हिन्दी अनुवाद ), पृ० ३१६.

७. हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गीतम् ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥

की है।<sup>८</sup> किन्तु इन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया है कि किन-किन कर्मों के कारण जीव विविध योनियों में जन्म ग्रहण करता है। यह पूर्ण सत्य है कि श्रमण संस्कृति में पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारधारा अज्ञात काल से चली आ रही है और इसी कारण उसके विशाल साहित्य में पुनर्जन्म की सहस्रों घटनाएँ कहानियों के रूप में संकलित होती रही हैं। 'भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन' ग्रन्थ में हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि भगवान् पार्श्व के प्रबल प्रभाव के कारण ही उपनिषद् साहित्य में अध्यात्मवाद के स्वर झंकृत हुए हैं। महात्मा बुद्ध पर भी भगवान् पार्श्व का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

तथागत बुद्ध के समय श्रमण संस्कृति में छः वाद थे। उसमें गोशालक का एक आजीवक सम्प्रदाय था। उसका यह स्पष्ट मन्तव्य था कि जो अतीत काल में सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, वर्तमान काल में जो सिद्धि प्राप्त कर रहे हैं या भविष्य काल में जो सिद्धि प्राप्त करने वाले हैं, उन सभी को चौरासी लक्ष महाकल्पों की अवधि पूरी करनी पड़ती है। प्रस्तुत अवधि में उन्हें अनुक्रम से सात बार कल्पों में देवों के बीच तथा सात बार संज्ञी प्राणियों के रूप में पृथ्वी पर उत्पन्न होना पड़ता है।<sup>९</sup>

दीघनिकाय<sup>१०</sup> के मन्तव्यानुसार गोशालक की यह भी मान्यता थी कि प्राणी के अपवित्र होने में न कुछ हेतु है और न कुछ कारण ही। बिना हेतु और कारण के ही प्राणी अपवित्र होते हैं। उसी प्रकार प्राणी की शुद्धि के लिए भी न कोई हेतु है और न कोई कारण ही है। बिना हेतु के ही प्राणी शुद्ध होते हैं। स्वयं अपनी या दूसरों की शक्ति से कुछ नहीं होता। बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम कुछ भी नहीं हैं। सभी प्राणी बलहीन और निर्वीर्य हैं। वे नियति, संगति और स्वभाव द्वारा परिणत होते हैं। कोई चाहे बुद्धिमान ही या अज्ञ, सभी को दुःखों का नाश करने के हेतु चौरासी लक्ष महाकल्प के फेरे पूर्ण करने ही होते हैं। सूत्रकृताङ्ग<sup>११</sup> से भी गोशालक

८. (क) बहुनि मे व्यतीतानि जन्मानि तवचार्जुन । -गीता, ४.५.

(ख) संस्कार साक्षात्कारणात् पूर्वजातिज्ञानम् ।

—योगदर्शन, विभूतिपाद, १८.

९. भगवतीसूत्र, ५.४९.

१०. दीघनिकाय, सामञ्जसफलसुत्त.

११. सूत्रकृताङ्ग, २.६.

के प्रस्तुत कथन का समर्थन होता है। गोशालक के मत का गहराई से पर्यवेक्षण करने पर दो बातें स्पष्ट ज्ञात होती हैं :

- (१) गोशालक की पुनर्जन्म में मिष्टा थी।
- (२) वह पुनर्जन्म को प्राणी द्वारा किये गये कर्मों का फल नहीं मानता था।

तथागत बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में चर्चा करना अनुपयुक्त माना है। यदि कोई जिज्ञासु उनसे प्रस्तुत सम्बन्ध में चर्चा करना चाहता है तो वे उसे अव्याकृत और अनावश्यक कहकर उसकी उपेक्षा कर देते थे, पर पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को मानने से उन्होंने इनकार नहीं किया। यही कारण है कि बौद्ध साहित्य में पुनर्जन्म की कथाएँ अत्यधिक काव्यसौष्ठव के साथ चित्रित की गई हैं। निदानकथा में बुद्धत्व की प्राप्ति हेतु जीव अपने पूर्व जन्मों के प्रयत्न करते हुए बतलाया गया है। जातक कथाओं में भी बुद्ध के जीव को अपने पूर्व जन्मों में बुद्धत्व की प्राप्ति हेतु श्रेष्ठ कर्मों को करते हुए उट्टुद्धित किया गया है। बुद्ध पुनर्जन्म और कर्मफल में सर्वाथा विश्वास रखते हैं। एक बार पैर में कांटा बिध जाने पर उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—‘भिक्षुओ, इस जन्म से एकानवे जन्म पूर्व मेरी शक्ति (शस्त्र विशेष) से एक पुरुष को हत्या हुई थी। उसी कर्मफल के कारण मेरा पैर कांटे से बिध गया है।’<sup>१२</sup>

जैन धर्म ने आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया। आत्मा के सम्बन्ध में जितना स्पष्टता से और विस्तार से वर्णन जैन आगमों में हुआ है, उतना अन्य मूल ग्रन्थों में प्राप्त नहीं है। भगवान् महावीर के प्रवचनों में आत्मा का सर्वांगीण स्वरूप सदा ही निश्चित और सुस्पष्ट रहा है। आत्मा को शाश्वत मौलिक द्रव्य माना है। तथागत बुद्ध ने जिन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर छोड़ दिया उन्हीं प्रश्नों का समाधान भगवान् महावीर ने सरल शब्दों में प्रदान किया। शब्द सीधे-साधे होने पर भी उनमें अर्थ गांभीर्य रहा हुआ है। भगवान् महावीर आत्मा और परलोक, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के प्रबल समर्थक थे। उनका युग ही आत्म-विद्या, परलोक-विद्या की

१२. इत एकनवती कल्पे शकत्या मे पुरुषो हतः।

तेन कर्म विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥

—षड्दर्शनसमुच्चय टीका.

जिज्ञासाओं का युग था। उस समय आत्मा है या नहीं? परलोक है या नहीं? जिन या तथागत होंगे या नहीं? ऐसे प्रश्न पूछे जाते थे और इन सभी प्रश्नों का उत्तर महावीर देते थे। आगम साहित्य में शताधिक बार ये विषय चर्चित हुए हैं।

आचारांग का प्रारंभ ही आत्म-विवक्षा से होता है। वहाँ पर कहा गया है—अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते, मैं कहाँ से आया हूँ? मेरा भवान्तर होगा या नहीं? मैं कौन हूँ? यहाँ से कहाँ जाऊंगा? <sup>१३</sup>

भगवतीसूत्र में आत्मा को अनादि, अनिधन, अविनाशी, अक्षय, ध्रुव और नित्य बताया गया है। <sup>१४</sup> उसका कोई रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं और वह इन्द्रियों से भी अग्राह्य है।

जैन दर्शन ने आत्मा को संसारी और मुक्त इन दो भागों में विभक्त किया है। संसारी कर्मयुक्त हैं और मुक्त कर्मरहित होते हैं। जब आत्मा कर्मों का क्षय कर सर्वथा मलरहित होकर सिद्धि की पा लेता है, तब लोक के अग्रभाग पर स्थित होकर वह शाश्वत सिद्ध हो जाता है। <sup>१५</sup> कर्मसहित आत्मा नाना जातियों व गतियों में परिभ्रमण करता है। उसका पुनर्जन्म और पूर्वजन्म होता है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त केवल आर्य जाति या भारतीयों का ही सिद्धान्त मात्र नहीं है किन्तु विश्व-साहित्य का अनुशीलन करने से पता चलता है कि यह विश्व के समस्त धार्मिक विश्वासों का मूल आधार रहा है और प्रत्येक धर्म में इस सिद्धान्त को मान्यता मिली है।

कहा जाता है कि ईसाई एवं इस्लाम धर्म में पुनर्जन्म का सिद्धान्त नहीं है किन्तु उनके धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन करने से पुनर्जन्म सिद्धान्त की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

१३. इहमेगेसि नो सन्ना हवइ तं जहा—कम्हाओ दिसाओ वा आगओ अहमंसि? अत्थि मे आया उववाइए वा नत्थि मे आया उववाइए? के वा अहमंसि? के वा इओ चुए इह पेच्चा भविस्सामि। —आचारांग.

१४. जीवो अणाइ अनिधनो अविणासी अक्खओ धुओ णिच्चं। —भगवतीसूत्र.

१५. जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ।

तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो भवइ सासओ ॥ —दशगैकालिक, ४.२५.

बाइबिल में राजाओं की दूसरी पुस्तक पर्व २ आयत १५ में वर्णन है कि “एलियाह नबी की आत्मा एलोशा में आ गई।” पुराने इसाई मत का एक संप्रदाय ‘नास्टीसिज्म’ पुनर्जन्म को स्पष्ट रूप से मानता था। साइमेनिस्ट, बैसिलियन, मैनीचियन आदि इसाई संप्रदाय थे जो पुनर्जन्म को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते थे। इसा की छठी शताब्दी में चर्च की एक कौंसिल हुई जिसमें कुछ सिद्धान्तों को मानना पाप घोषित किया गया, उनमें पुनर्जन्म का भी एक सिद्धान्त था।

इस्लाम भी सिद्धान्त रूप से पुनर्जन्म को नहीं मानता, पर उसकी अनेक आयतें इस बात की स्पष्ट घोषणा करती हैं कि जिस अल्लाह ने तुमको पैदा किया वही तुम्हें मारेगा और फिर पैदा करेगा। इतिहासकारों का यह भी मत है कि इस्लाम के प्रचार से पूर्व अरबनिवासी जनता का पुनर्जन्म सिद्धान्त एक प्रिय सिद्धान्त था। प्राचीन यूनान के थेल्स, एम्पीदाक्लीज, फिरसाइड्स, प्लेटो तथा पैथोगोरस आदि दार्शनिक पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे।<sup>१६</sup>

वर्तमान युग में मनोविज्ञान पुनर्जन्म के सिद्धान्त को तर्क एवं कसौटी पर कसकर नये-नये अनुसंधान एवं अन्वेषण कर रहा है और इस दृढ़ निश्चय पर आ रहा है कि हमारा पुनर्जन्म अर्थात् पिछला जन्म भी है और अगला जन्म भी। प्रो० हक्सले [ Huxley ] ने दृढ़ता के साथ यहाँ तक कह दिया कि केवल बिना ठीक से सोचे-समझे निर्णय लेने वाले विचारक ही पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मूर्खता की बात समझकर इसका विरोध करेंगे। विकासवाद के सिद्धान्त की तरह देहान्तरवाद का सिद्धान्त भी वास्तविक एवं वैज्ञानिक है। अमेरिका के वर्जिनिया विश्वविद्यालय के मेडिकल विज्ञान के प्रोफेसर स्टीवेन्सन् ने अपनी पुस्तक *Twenty Cases Suggesting Reincarnation* जो अभी कुछ दिन पूर्व प्रकाशित हुई है उसमें लिखा है—केवल भारतवर्ष में ही नहीं बल्कि अन्य पश्चिमी देशों में भी इस प्रकार जीवन घटनाएँ हो चुकी हैं जिनसे पूर्वजन्म की सच्ची स्मृतियों का प्रमाण मिलता है।<sup>१७</sup> पुनर्जन्म की घटनाओं के अनुसन्धान में संलग्न राजस्थान विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान के प्रोफेसर श्री हेमेन्द्रनाथ

१६. कल्याण, वर्ष ४३, अंक १, पृ० ४५५.

१७. वही, पृ० ४५५, ५३६-५५०.

बमर्जी ने भारत, स्विट्जरलैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, थाइलैंड, आस्ट्रेलिया, इटली, कनाडा एवं इंग्लैण्ड आदि देशों की सैकड़ों घटनाओं का संकलन करके यह सिद्ध किया है कि पुनर्जन्म बिल्कुल वास्तविक एवं सत्य है ।

पुनर्जन्म व पूर्वजन्म के सम्बन्ध में इतना विस्तारपूर्वक लिखने का उद्देश्य यही है कि कुछ ससय पहले तक और आज भी कुछ विचारक, जो स्वयं को आस्तिक भी कहते हैं, प्राचीन ग्रन्थों में पूर्वजन्म सम्बन्धी घटनाओं को पढ़ कर या तो मजाक किया करते हैं या उनका उल्लेख करने में संकोच अनुभव करते हैं । वस्तुतः यह उनकी समझ का ही अन्तर कहा जा सकता है ।

कर्म सिद्धान्त को सरल रूप से समझाने के लिए ही भारतीय विचारकों ने पुनर्जन्म व पूर्वजन्म की कथाएँ लिखी हैं । इन कथाओं में किसी कर्मफल विशेष को जन्म-जन्मान्तरों में भोगता हुआ चित्रित किया गया है । यदि वह कर्मफल दो प्राणियों से संबन्धित रहा है तो आगामी भवों में भी वे दोनों साथ-साथ कर्म भोगते हैं । कितनी कथाएँ ऐसी हैं जिनमें गैरानुबन्ध का परिणाम अगले अनेक जन्मों में फल देता हुआ चित्रित किया गया है । संघदासगणिरचित वसुदेवहिण्डी में गैरानुबन्ध की अनेक कथाएँ दी गई हैं । आचार्य हरिभद्र ने समराइचकहा में गुणसेन और अग्निशर्मा का विस्तार से वर्णन किया है जो नौ जन्मों तक परस्पर द्वेषभाव रखते हैं । बुद्धघोष ने धम्मपद की टीका में गैर की परम्परा ५०० जन्मों तक बतलाई है । ईसा की छठी शताब्दी में जन्म-जन्मान्तरों की कथाओं की रुचि अत्यधिक बढ़ी । कादम्बरी महाकाव्य में बाणभट्ट ने भी चन्द्रापीड और महाश्वेता आदि की तीन जन्मों की कहानी उत्कृष्ट काव्यशैली में चित्रित की है ।

कर्म-सिद्धान्त को मान्य करने के कारण ही वर्तमान जीवन में जो सुख-दुःख अनुभव होता है, उसका मूल कारण पूर्व भव में जो सुकृत और दुष्कृत किया है, वही है । जैन धर्म, जो एक सच्चा आध्यात्मिक विकासवादी धर्म है, आत्मा का एकाएक सम्पूर्ण विकास नहीं मानता । आत्मा नाना योनियों एवं जन्मों में भटकते हुए विशुद्धि की ओर अग्रसर होता है । वह साधना एवं तपस्या के द्वारा पवित्रता प्राप्त करता है, "जिवो मुद्धि-मणुप्पत्तो आययंति मणुस्सयं" आत्मा क्रमशः शुद्धि प्राप्त करता हुआ मनुष्य गति को प्राप्त करता है, और यहाँ अपनी साधना का सम्पूर्ण विकास करके मुक्ति को भी प्राप्त कर सकता है । तीर्थंकरों के असाधारण प्रतिभा का

कारण उनके पूर्वजन्म का सुकृत ही है। ज्ञातृधर्मकथा<sup>१८</sup> एवं तत्त्वार्थ-सूत्र<sup>१९</sup> प्रभृति ग्रंथों में दर्शनविशुद्धि आदि क्रमशः बीस और सौलह गुणों का वर्णन किया गया है। कर्म-सिद्धान्त का निरूपण करने वालों के लिए यह आवश्यक था कि वे तीर्थंकरों के पूर्वभवों में उन गुणों को बतलाएं जो तीर्थंकरत्व की प्राप्ति के लिए अपेक्षित हैं। तीर्थंकरों ने उन-उन गुणों को किस प्रकार प्राप्त किया, इसका यथार्थ वर्णन करने के लिये ही तीर्थंकरों के पूर्वभव बतलाए गये हैं। मूल प्रथमानुयोग में इस पर विस्तार से विश्लेषण किया गया था पर वह आज अप्राप्य है।



१८. णायाधम्मकहाओ, श्रु० १, अ० ८.

१९. दर्शनविशुद्धिविनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्षणं ज्ञानोपयोग-संवेगो शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधिगीयावृत्यकरणमहंदाचार्यबहुभुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकपरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थ-कृत्वस्य ।—तत्त्वार्थसूत्र, ६.२३.

# पउमचरिउ और रामचरितमानसः एक अध्ययनात्मक तुलना

डा० देवेन्द्रकुमार जेन

‘पउमचरिउ’ प्रसिद्ध अपभ्रंश कवि स्वयंभू की रचना है और ‘रामचरित-मानस’ महाकवि तुलसीदास की। दोनों का विषय ‘रामचरित्र’ का वर्णन करना है। एक की रचना अपभ्रंश में हुई है और दूसरे की अवधी में। दोनों में न केवल ७०० वर्षों का फासला है बल्कि दार्शनिक उद्देश्य और सामाजिक मान्यताओं में अन्तर है। एक ने दक्षिण में रहकर काव्यसाधना की जबकि दूसरे ने पूर्वी उत्तर प्रदेश में। स्वयंभू के समय ( ७११ ई० ) मुहम्मद बिन कासिम सिंध पर हमला कर उसे अपने अधिकार में कर लेता है। वह वस्तुतः स्वदेशी सामन्तवाद और विदेशी सामन्तवाद का संक्रान्तिकाल था जब स्वयंभू ने ‘पउमचरिउ’ लिखा। तुलसी का रचनाकाल स्पष्टरूप से विदेशी सामन्तवाद का स्वर्णकाल था। अतः यह जानना रोचक होगा कि एक ही कथा के आधार पर लिखे दो प्रबन्ध काव्यों में क्या समानताएँ और असमानताएँ हैं ?

स्वयंभू ने अपने कथाकाव्य को ‘नदी’ का रूपक दिया है जबकि तुलसीदास ने ‘मानसरोवर’ का। यद्यपि एक जगह उन्होंने नदी का भी रूपक दिया है। ऐसा करते समय उनका अभिप्राय उसमें निहित दार्शनिक संकेतों और रामभक्ति के महत्त्व को बताना होता है। स्वयंभू की रामकथा रूपी सरिता के तट हैं—संस्कृत और प्राकृत, जबकि तुलसी की काव्य-सरिता के तट हैं ‘लोकमत और वेदमत’। स्वयंभू की नदी में देशीभाषा का जल भरा हुआ है, तुलसी की रामकाव्य रूपी नदी में भक्ति का जल भरा हुआ है। स्वयंभू कहते हैं कि गणधरदेवों ने रामकथा रूपी जिस सरिता को बहते हुए देखा था, उन्होंने उसी का चित्रण किया है। तुलसी की ‘रामकथा रूपी नदी’

लोकमत और वेदमतों के तटों को छूती हुई बहती है और अन्त में राम के विराट स्वरूप रूपी महासमुद्र में मिल जाती है। तुलसी के लिये उनकी काव्य-यात्रा तीर्थ-यात्रा है। दोनों ने स्पष्टरूप से यह स्वीकार किया है कि राम-कथा सुनने से चित्त की कलुषता दूर हाती है।

चरिउ की रामकथा ५ कांडों में विभक्त है, मानस की कथा सात सोपानों में है। नाम भी अलग-अलग हैं। चरिउ में ये नाम हैं : विद्याधर-कांड, अयोध्याकांड, सुन्दरकांड, युद्धकांड और उत्तरकांड। मानस के सोपान आदिरामायण के अनुसार हैं : बालकांड, अयोध्याकांड, किष्किन्धाकांड, अरण्यकांड, सुन्दरकांड, लंकाकांड और उत्तरकांड (मानस में कांड का दूसरा नाम सोपान है)। चरिउ का अयोध्याकांड और मानस का बालकांड समान है परन्तु चरिउ के अयोध्याकांड में मानस के किष्किन्धाकांड और सुन्दरकांड की कथा आ जाती है। मानस का लंकाकांड चरिउ में युद्धकांड है। मानस में उत्तरकांड है, परन्तु तुलसीदास सीता-निर्वासन आदि घटनाओं का वर्णन नहीं करते, जबकि स्वयंभू में इनका उल्लेख है। इसकी जगह तुलसी ज्ञान की तुलना में भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं। दोनों के उद्देश्य समान हैं, एक जिनभक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करता है, दूसरा रामभक्ति की।

मानस के राम का वनगमन मार्ग चरिउ के वनगमन मार्ग से भिन्न है। वनप्रवास के लिए अयोध्या से निकलकर राम शृङ्गवेरपुर पहुँचते हैं, और गंगा पार कर चित्रकूट पहुँचते हैं। वहाँ से दंडकवन होकर वह ऋष्यमूक पर्वत और पंपासर पहुँचते हैं। फिर माल्यवान् पर्वत पर वर्षाकाल काटकर, वह सेना के साथ कूचकर सुबेल पर्वत पर डेरा डालते हैं। यहाँ चित्रकूट और दंडकवन के बीच का यात्रामार्ग का उल्लेख नहीं है। (स्वयंभू के अनुसार राम अयोध्या से चलकर गंभीर नदी पार करते हैं, फिर दक्षिण की ओर जाने के लिए उद्यत होते हैं, इसी बीच जब भरत उनसे आकर मिलते हैं, तो उस समय राम एक लतागृह में ठहरे हुए थे। कवि इस स्थान का नाम नहीं बताता। वहाँ से तापस और धानुष वन पार कर भीलवस्ती में से होते हुए चित्रकूट पहुँचते हैं। वहाँ से दशपुरनगर, कूवरनगर (विष्याचल) होते हुए नर्मदा पार करते हैं। फिर ताप्ती पार कर कई नगरों में से होते हुए, कौंच नदी पार कर वैशस्थ नगर पहुँचते हैं। रामचरितमानस में

चित्रकूट से लेकर दंडकवन के बीच के मार्ग का उल्लेख नहीं है। 'पउम-चरिउ' में अयोध्या से चलने के बाद राम गंगा-यमुना को पार नहीं करते। वह गंभीर नदी पार कर चित्रकूट पहुँचते हैं। परन्तु एक दूसरे स्थल पर स्वयंभू ने गंगा-यमुना का उल्लेख किया है। लक्ष्मण की शक्ति लगने पर हनुमान जब उड़ान भरते हैं विशल्या को लाने के लिए, तब वह समुद्र, मलय पर्वत, कावेरी, तुंगभद्रा, गोदावरी, महानदी, विध्याचल, नर्मदा, उज्जैन, पारियात्र, मालव जनपद, यमुना, गंगा और तब अयोध्या जा पहुँचते हैं। मानस की शूर्पणखा का नाम चरिउ में चन्द्रनखा है। चरिउ में रावण का वध, राम की जगह, लक्ष्मण करते हैं। यह इसलिए कि राम मोक्षगामी हैं, अतः उनसे हिंसा कराना उचित नहीं समझा गया। आदिरामायण और मानस की तुलना में 'पउमचरिउ' में दक्षिण की भौगोलिक स्थिति का विस्तार से चित्रण है। चरिउ में राम जिनभक्त हैं और मानस में शिवभक्त। मानस में राम साक्षात् ईश्वर हैं, और दूसरे-दूसरे पात्रों से उनका दुहरा सम्बन्ध है। दोनों कवियों में भरपूर काव्य-सौंदर्य है। दोनों ने कथागठन और चरित्र-चित्रण में नैतिक मूल्यों को अधिक महत्त्व दिया है। मानस की सीता धरती में समा जाती है, चरिउ की सीता जिनदीक्षा ग्रहण कर लेती है। दोनों काव्यों में काव्यात्मक सौंदर्य है। स्वयंभू ने सीता के निर्वासन का उल्लेख किया है, तुलसी निर्वासन के दुःख को स्वयं पी जाते हैं। दोनों में काव्य-दर्शन और जीवन का समन्वय है। स्वयंभू ने धर्म की यद्यपि पाप-पुण्य मूलक व्याख्या की है, और तुलसी ने भक्तिपरक। परन्तु स्वानुभूति पर दोनों कवियों ने समान रूप से बल दिया है। दोनों में यथार्थ की अभिव्यक्ति है, परन्तु यह यथार्थ व्यक्तिगत अधिक है। फिर भी वे 'राम' को किसी-न-किसी रूप में सामाजिक मर्यादाओं के संस्थापक के रूप में स्वीकार करते हैं। स्वयंभू और राम दोनों समाज के नैतिक पतन से दुःखी हैं। तुलसी ने स्पष्ट शब्दों में शिव से कहलवा दिया है कि वेदों का विरोध करनेवाले ही राक्षस नहीं हैं, बल्कि दूसरों के धन और स्त्री का अपहरण करने वाले जुआड़ी और माँ-बाप की सेवा से विमुख लोग भी अनाड़ी हैं। अध्यात्मवाद के नाम पर होने वाले शोषण की भी तुलसी ने कड़ी से कड़ी आलोचना की है। वे लिखते हैं : लोग बात करते हैं ब्रह्मज्ञान और अद्वैतवाद की, परन्तु दो कौड़ी के लिये दूसरे की हत्या से नहीं कतराते। जब गृहस्थ दरिद्र हो जाय, और साधु-सन्यासी धनवान तो उसे कलयुग न कहा जाय तो क्या

कहा जाय । स्वयंभू अपने राम से कहते हैं—‘राजा को दुनियाँ के प्रति कठोर नहीं होना चाहिए, वह देवताओं, ब्राह्मणों और श्रमणों को न सताए’ । स्वयंभू के समय चीजों में मिलावट होती थी यह जानकर आपको आश्चर्य होगा । किकिधा के बाजार में तेल और घी दोनों मिले हुए थे, वे ऐसे मिले हुए थे जैसे दो कुमित्र हों । स्वयंभू भी ७०१ साल पहले ( तुलसी से ) लिख चुके थे कि कलियुग में धर्म की प्रवृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं । दोनों ही सामाजिक दृष्टि से उदार हैं, वे आधारमूलक सजग चेतना के कवि हैं ।



# आशुतोष म्युजियम में नागौर का एक सचित्र विज्ञप्तिपत्र

श्री अगरचंद भेंवरलाल नाहटा

भारतीय प्राचीन चित्रकला समृद्धि में जैनकला का अपना विशिष्ट स्थान है। इसकी अनेक विधाओं में विज्ञप्ति-पत्र भी एक है जिसमें साहित्य, कला, इतिहास, भूगोल आदि सभी विषयों का सुन्दर संगम दिखाई देता है। महान् आचार्यों के प्रति उनके अनुयायियों की जो भक्ति-भावना उमड़ पड़ती थी उसकी बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। अपने नगर में उनके आगमन की प्रतीक्षा भक्तजनों को सदा रहा करती थी, अतः अपना नगर कैसा है? इसका छटादार काव्य-गजल आदि के रूप में और साथ ही नगर के सुन्दर दृश्य चित्रमय बनवाकर अपने आचार्यों को भेजे जाते थे। उनमें प्रधान स्वर तो अपने ग्राम-नगर में पधारने का ही रहता था पर साथ ही अपने यहाँ होने वाले धर्मकृत्यों पर्युषणादि की आराधना सम्बन्धी विवरण भी लिखा जाता रहा है। विद्वान् मुनिगण बड़े सुन्दर काव्य बनाकर आचार्य की सेवा में भेजा करते थे। इनमें से कई विज्ञप्तिपत्र तो तत्कालीन अनेक ग्राम, नगरों, तीर्थों, प्रमुख व्यक्तियों और यात्रादि के विवरण वाले भी होते थे। ऐसे काव्यमय और सुललित गद्यमय प्राकृत-संस्कृत के बहुत से विज्ञप्तिपत्रों का एक संग्रहग्रंथ मुनि श्री जिनविजय जी ने संपादित करके सिधी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित कराया है। इससे पहले भी वे विज्ञप्ति-त्रिवेणी नामक नगरकोट की यात्रा विवरण वाले उपाध्याय जयसागर के विशिष्ट लेख का सुसंपादित करके बहुत-सी महत्त्वपूर्ण जानकारी के साथ श्री आत्मानन्द जैनसभा भावनगर से प्रकाशित करा चुके थे। उसमें विज्ञप्तिपत्रों की प्राचीन परम्परा, उसके उद्देश्य और महत्त्वादि के सम्बन्ध में समुचित प्रकाश डाला गया था। श्रीपूज्यों के संग्रहों में ऐसी और भी बहुत-सी सामग्री प्राप्त हो सकती है।

सचित्र विज्ञप्तिपत्रों के सम्बन्ध में अंग्रेजी में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ३० वर्ष पूर्व डा० हीरानन्द शास्त्री ने तैयार किया था जो श्री प्रतापसिंह महाराजा राज्याभिषेक ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में बड़ौदा से प्रकाशित हुआ था। उसमें २४ विज्ञप्तिपत्रों का विवरण छपा था जो पाटण, बड़ौदा आदि में उन्हें देखने को मिले थे।

“एनसिएण्ट विज्ञप्तिपत्र्स” नामक वह ग्रंथ अब अप्राप्य है। अतः पाठकों की जानकारी के लिए उसमें जिन विज्ञप्तिपत्रों का विवरण है उनकी सूची नीचे दी जा रही है :

१. विजयसेनसूरि विज्ञप्तिपत्र, सं० १६६१ ।
२. विज्ञप्ति-पत्र, सतरहवीं शती ।
३. घोषा विज्ञप्ति-पत्र, वि. सं. १७१७ ।
४. ऊना विज्ञप्ति-पत्र, वि. सं. १७४५ ।
५. सीरोही आमंत्रण, वि. सं. १७८२ ।
६. देवास विज्ञप्ति-पत्र, १८वीं शताब्दी ।
- ७-८. दो सचित्र विज्ञप्ति-पत्र ।
९. सिणोर विज्ञप्ति-पत्र, वि० सं. १८२१ ।
१०. सूरत विज्ञप्ति-पत्र, वि. सं. १८४५ ।
११. जोधपुर विज्ञप्ति-पत्र, वि. सं. १८४८ ।
१२. बड़ौदा विज्ञप्ति-पत्र, वि. सं. १८५२ ।
१३. राजनगर विज्ञप्ति-पत्र, वि. सं. १८५३ ।
१४. आमोदनगर आमंत्रण, सं. १८६२ ।
१५. सीनोर विज्ञप्ति-पत्र, सं. १८६३ ।
१६. राजनगर विज्ञप्ति-पत्र, वि. सं. १८८२ ।
१७. जोधपुर विज्ञप्ति-पत्र, सं. १८६२ ।
१८. जोधपुर विज्ञप्ति-पत्र, सं. १८६७ ।
१९. विश्वेवा टिप्पणक ( बिना संवत् ) ।
२०. सोजत-पत्र, वि. सं. १९०३ ।
२१. छाणी विज्ञप्ति-पत्र, वि. सं. १९१२ ।
- २२-२३. बिना संवत् के टिप्पण, १८वीं शताब्दी ( १. प्रभासपाटण से विजयसिंहसूरि, २. कल्याणचंदसूरि, जालोर ) ।
२४. जैसलमेर विज्ञप्ति-पत्र जिनमुक्तिसूरि, वि. सं. १९१६ ) ।

सचित्र विज्ञप्ति-पत्रों में कई बातें बड़ी ही महत्त्वपूर्ण होती हैं जो अन्य किसी भी साधन से ज्ञात नहीं हो सकती। इनमें पहली बात तो स्थानीयव्यक्तियों के नाम व हस्ताक्षरों की है, उससे उस समय उस नगर के कौन-कौन मुख्य जैन श्रावक थे इसकी जानकारी मिल जाती है। उस समय कहीं किन-किन विद्वान् मुनियों का चौमासा किस आचार्य के साथ कहीं था और विज्ञप्ति-पत्र जहाँ से भेजा जाता था वहाँ किनका चौमासा था ? उनमें कौन विद्वान् एवं कवि थे, इसका परिचय मिल जाता है। दूसरी बात इससे भी महत्त्वपूर्ण है कि जहाँ से विज्ञप्ति-पत्र भेजा जाता था वहाँ के प्रमुख स्थानों के दृश्य या चित्र काव्यमय वर्णन, इससे कौन-सा स्थान कहीं पर था ? किस रूप में था ? उस नगर के प्रधान स्थान कौन-कौन से थे ? इसकी अच्छी जानकारी मिल जाती है।

विभिन्न स्थानों की चित्र शैलियों और बोलियों का अध्ययन भी ऐसे विज्ञप्ति-पत्रों के आधार से सुचारुतया हो सकता है। कई-कई पत्रों में तो चित्रकार के नाम व जाति का भी उल्लेख मिलता है। उस समय की वेष-भूषा, मकान, मन्दिर आदि की शिल्पकला, कौन-कौन से रंग कहाँ-कहाँ प्रयुक्त होते थे, नगर-जीवन, हाट, बाजार आदि किस रूप में थे ? इत्यादि अनेक बातों की सूक्ष्म जानकारी ऐसे पत्रों से ही मिल सकती है अतः सांस्कृतिक दृष्टि से इन पत्रों का बड़ा भारी महत्त्व है।

श्वेताम्बर संप्रदाय की तरह दिगम्बर संप्रदाय व जैनैतरों में भी अपने भट्टारकों, महन्तों, धर्मगुरुओं को ऐसे पत्र भेजे जाते रहे हाने। हमारे कलाभवन में रामस्नेही संप्रदाय का एक ऐसा पत्र है जिसका विवरण हिन्दु-स्तानी पत्रिका में प्रकाशित कर चुके हैं।

चित्रकाव्य के रूप में तो कई प्राचीन विज्ञप्ति-पत्र मिलते हैं पर नगरादि के दृश्योंवाले सचित्र विज्ञप्ति-पत्रों की परम्परा विजयसेनसूरि वाले शाही चित्रकार शालिवाहन के चित्रित लेख से प्रारंभ होती है। इसके बाद अठारहवीं शताब्दी में कई सचित्र विज्ञप्ति-पत्र तैयार किए गए जिनमें से दो बीकानेर के बृहद् ज्ञानभंडार में प्राप्त हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में इस विद्या में और भी विस्तार हुआ अतः बड़े-बड़े लम्बे सचित्र विज्ञप्ति-लेख दसवीं शताब्दी के अधिक मिलते हैं। ऐसा एक विज्ञप्ति-पत्र हमारे श्री-शंकरदास-लाल-दास कलाभवन में है जो लगभग ७२ फीट लम्बा है। उसमें उदयपुर का चित्रमेक वर्णन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस विज्ञप्ति-पत्र का विस्तृत विवरण नागरी

प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५७ अंक २-३ में प्रकाशित कर चुके हैं। जैन जर्नल जुलाई ७२ के अंक में कतिपय रेखाचित्रों के साथ अंग्रेजी में इसका विवरण प्रकाशित किया गया है। इससे पहले महाराणा भीमसिंह के समय का एक अन्य उदयपुर का सचित्र विज्ञप्ति-पत्र देखने को मिला था जिसका वर्णन शोध पत्रिका में प्रकाशित कर दिया गया था। बीकानेर का सबसे बड़ा लंबा और कला की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण १०८ फुट वाला सचित्र विज्ञप्ति-पत्र बीकानेर के बड़े उपाश्रय के ज्ञानभंडार में है, इसका विवरण राजस्थान भारती, जनवरी १९४७ के अंक में प्रकाशित किया गया था। बीकानेर का एक और सचित्र विज्ञप्ति-पत्र इसी ज्ञानभंडार में सं० १८०१ का मिला है। उसका विवरण भी राजस्थान भारती में प्रकाशित कर दिया गया था।

बीकानेर से प्राप्त सीरोही के दो सचित्र विज्ञप्ति-पत्रों सम्बन्धी एक लेख तैयार किया था। कलकत्ता में सुरपतसिंह जी दूगड़ के पास जयपुर का बहुत ही सुन्दर चित्रों वाला विज्ञप्ति-पत्र देखा था जिसका सचित्र विवरण पटना से प्रकाशित अवन्तिका में प्रकाशित किया गया था। इसी तरह कलकत्ता के गुजराती तपागच्छ संघ की लायब्रेरी में भी एक सचित्र विज्ञप्ति-पत्र है, उसका विवरण महावीर जैन विद्यालय, बम्बई के स्वर्णजयन्ती ग्रन्थ में प्रकाशित कर चुके हैं।

कलकत्ता में जैन कला के विशिष्ट संग्राहक स्वर्गीय पूरणचन्द्र जी नाहर के संग्रह में काफी वर्ष पूर्व कई सचित्र विज्ञप्ति-पत्र देखे थे। उनमें से एक का विवरण तो पहले लिख लिया गया था पर दो सचित्र विज्ञप्ति-पत्र श्री विजय सिंह जी नाहर ने आशुतोष म्युजियम, कलकत्ता विश्वविद्यालय को दे दिये थे, उनका विवरण लिख नहीं पाये थे। इनमें से एक का नीचे का वह अंश प्राप्त नहीं है जिसमें लेखक व श्रावकों के हस्ताक्षर रहते हैं। अतः उसे कब किसने कहाँ किसे भेजा इसकी जानकारी प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है।

दूसरा सचित्र विज्ञप्ति-पत्र जो नागीर से सोजत को भेजा गया है वह दो अंशों में आशुतोष म्युजियम में प्रदर्शित है पर ऊँची दीवाल पर लगा रहने के कारण उसका पूरा विवरण व लेख की नकल नहीं लिख पाए। उसमें नगर का वर्णन गजल के रूप में है, वह तो अवश्य ही प्रकाशन योग्य है अतः उसकी नकल फिर कभी हो सकी तो प्रकाशित की जायगी।

अभी तो उस सचित्र विज्ञप्ति-पत्र का संक्षिप्त परिचय ही इस लेख द्वारा प्रकाशित किया जाता है ।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के आशुतोष म्युजियम में श्री विजय सिंह जी नाहर प्रदत्त दो महत्त्वपूर्ण विज्ञप्ति-पत्र प्रदर्शित हैं जो काफी लंबे और चित्र समृद्धि युक्त हैं । पहला विज्ञप्ति-पत्र सोजत में विराजित तपागच्छ के श्रीपूज्य श्री विजयजिनेन्द्रसूरि जी को नागौर संघ ने सं० १८४२ मिति कार्तिक सुदी १५ के दिन भेजा था । प्रस्तुत विज्ञप्ति-पत्र में चतुर्दश महा-स्वप्नादि से प्रारंभ होकर नागौर नगर का विस्तृत मानचित्र है जिसके नीचे बहुत ही लम्बा विज्ञप्ति लेख लिखा हुआ है । इसमें नागौर नगर की गजल, सूरि महाराज की गहूलियाँ, गुण वर्णनोपमा और अपने नगर में पधारने के लिए बिनती लिखने के अनन्तर मुख्य-मुख्य श्रावक संघ के हस्ताक्षर किए हुए हैं । अन्त में संवत् मित्ती व वंदन-मुखसाता पृच्छाअम्बु-ट्टिओमिपाठ देकर पूर्ण किया गया है ।

यह विज्ञप्ति-पत्र विजयजिनेन्द्रसूरि जी को सोजत-मारवाड़ भेजा गया था । तपागच्छ पट्टावली के अनुसार आप भ० महावीर के ६६वें पट्टघर थे । आपका जन्म संवत् १८०१ में सोजत में हुआ था । आपके पिता का नाम हरखंचन्द मेता एवं माता का नाम गमान बाई था । आपकी दीक्षा सं० १८१७ में हुई और सूरिपद सं० १८४१ भिगसर शुक्ल ५ को हुआ । आपने जंतारण में सूरिमंत्र का आराधन किया था । आचार्य पद प्राप्ति के दूसरे वर्ष अर्थात् १८४२ में नागौर संघ ने यह विशाल विज्ञप्ति-पत्र भेजा था । उस समय आप अपने जन्म स्थान सोजत में ही विराजमान थे । आपने सिद्धाचल जी में बावन जिनालय में प्रतिष्ठा करवाई व पाटण में दो हजार जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा कराई थी । सं० १८८४ पौष वदि ११ को सिरोही में आपका स्वर्गवास हुआ था ।

# प्राचीन जैन-ग्रन्थों में कृषि

डा० अच्छेलाल

कृषि भारत का प्राचीनतम प्रमुख उद्योग है। भारतवर्ष के आर्थिक इतिहास का सम्यक् अध्ययन करने से यह बात स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है कि कृषि तथा पशुधन ही प्राचीन भारत में आर्थिक संगठन के मुख्य आधार थे। प्राचीन ही नहीं, अर्वाचीन भारत के सामाजिक एवं आर्थिक ढांचे के निर्माण में भी कृषि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है और आज भी भारत का यह शाश्वत एवं चिर-अभ्यस्त उद्योग हमारी जीविका का सर्व-सामान्य साधन बना हुआ है।

कृषि को इस विशिष्ट महत्ता का ही परिणाम है कि वैदिक काल से लेकर २०वीं शताब्दी तक के लगभग सभी व्यवस्थाकारों ने अपनी नियम-व्यवस्था में इस साधन को सुव्यवस्थित करने की सदैव चेष्टा की। श्रमण-साहित्य में भी इसके विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। कृषि के विविध उपकरण, विधियाँ, खेतिहर भूमि, सिंचाई, बीज, खाद आदि का जो सूक्ष्म उल्लेख प्राचीन जैन-ग्रन्थों में हुआ है उसी का चित्रण यहाँ पृथक् उपशीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है।

**कृषि के उपकरण :** जैन साहित्य में कृषि के प्रयोजनीय उपकरण के रूप में हल, कुदाल, हँसिया, कोल्हू, बँलगाड़ी आदि का उल्लेख आया है। हल कृषि का प्रमुख उपकरण था। निशीथचूर्णि में इसकी तान कोटियाँ बतलायी गई हैं<sup>१</sup>—हल, कुलिय और दन्तालक। कुलिय को कुलिश भी कहा जाता था और दन्तालक संभवतः नंगल का ही दूसरा नाम था जिसका उल्लेख आवश्यकचूर्णि में हल को एक पृथक् कोटि के रूप में हुआ है।<sup>२</sup> कुलिय संभवतः सौराष्ट्र में प्रचलित एक विशिष्ट कोटि का हल था जो खेतों की घास काटने के काम आता था। इसकी लम्बाई लगभग दो हाथ

१. निशीथचूर्णि, पृ० ३१; व्यवहारभाष्यवृत्ति १, पृ० ७६.

२. आवश्यकचूर्णि, पृ० ८१.

तथा धार तीक्ष्ण लोहे की होती थी । इसके आकार के विषय में डा० जगदीश चन्द्र जैन ने लिखा है कि लगभग दो हाथ प्रमाण की लकड़ी में लोहे की कीलें लगा रहती थीं और उनमें एक लौह-पट्ट जुड़ा होता था ।<sup>१</sup> परन्तु तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की श्री अकलंक द्वारा की गई व्याख्या में हल, कुलिय और दन्तालक को त्रिकोटि का एक ही औजार न मानकर कृषि के तीन पृथक् उपकरणों के रूप में उल्लेख हुआ है ।

कुदाल का उल्लेख जैन-साहित्य में हल के सहगामी के रूप में हुआ है जिसका प्रयोग प्रायः कड़ी भूमि को तोड़ने अथवा हल की जोत से छूटे हुए खेतों के कोनों को खोदने के लिए किया जाता था ।<sup>२</sup> पकी हुई फसलों को काटने के लिए हँसिए का प्रयोग होता था, जिसे नायाधम्मकहा में 'असिसहि' कहा गया है ।<sup>३</sup> कटी हुई फसल को खेत से खलिहान तक ढोने के लिए बैलगाड़ियों के प्रयोग का उल्लेख भी जैन-ग्रन्थों में हुआ है ।<sup>४</sup> धनी कृषक कभी-कभी इस कार्य के लिए बड़ी संख्या में अपने पास बैलगाड़ियाँ रखते थे, जैसा कि एक महाश्रावक द्वारा ५०० बैलगाड़ियाँ रखने के उल्लेख से स्पष्ट है ।<sup>५</sup> गन्ना, जो इस काल की एक प्रमुख फसल थी, को पेरकर गुड़ अथवा शक्कर बनाने के लिए कृषक जिस विशिष्ट यंत्र का प्रयोग करते थे उसे यंत्रपीड़न कहा जाता था । जैन-साहित्य में इसकी गणना १५ कर्मादानों में की गई है ।<sup>६</sup> गन्ना पेरने का स्थान यंत्रशाला ( जंतशाला ) कहलाता था ।<sup>७</sup> इसके अतिरिक्त कृषि के एक प्रयोजनीय उपकरण के रूप में सूज का भी उल्लेख मिलता है । इसका प्रयोग घर अथवा खलिहान में अनाज साफ

१. जैन-आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १२१; निशीथचूर्णि-पीठिका, ६०.

२. उपासकदशाङ्ग, पृ० २०—“स्फोटकर्म कुदालहलादिभिर्भूमिदारणेन जीवनम् ।”

३. नायाधम्मकहा, ७. ८६.

४. उपासक० १. १२१.

५. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग १०, १९३४, पृ० ६६७.

६. उपासक० १, पृ० ११; जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका ३, पृ० ६३; बृहत्कल्प-भाष्य, २. ३४६८.

७. व्यवहारभाष्य, १०. ४८४.

करने के लिए किया जाता था। जैन-ग्रन्थों में इसे 'सुप्तकन्तर' कहा गया है।<sup>१</sup>

**कृषि की विधियाँ :** श्रेष्ठ उत्पादन तथा अच्छी पैदावार के लिए कृषक विधिपूर्वक खेती करते थे। यह आधुनिक सुनियोजित कृषि का ही दूसरा रूप था। कृषि की कतिपय विधियों का उल्लेख जैन-साहित्य में हुआ है। कृषि का प्रारम्भ भू-कर्षण से होता था, जिसके सम्बन्ध में जैन-ग्रन्थों का कथन है कि तत्कालीन कृषक कुशलतापूर्वक खेतों की गहन एवं गहरी जोताई करते थे। इसके लिए सैकड़ों-हजारों हलों के प्रयोग का भी उल्लेख आया है।<sup>२</sup> कोई-कोई कृषक हल चलाने में काफी निपुण होते थे। समाज में इन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाता था। उत्तराध्ययनटीका में ऐसे ही एक पाराशर गृहपति का उल्लेख है। कृषि में पारंगत होने के कारण उसे 'कृषि-पाराशर' कहा गया है।<sup>३</sup> इसी ग्रन्थ में आगे एक ऐसे कृषक का वर्णन आया है जो एक हाथ से हल चलाता हुआ, दूसरे से अपनी बाड़ी में से कपास तोड़ता जाता था।<sup>४</sup> निश्चय ही उसका यह कार्य विषय पर पूर्ण अधिकार का परिचय देता है। भली-भाँति जुते हुए खेत 'वाहित' कहलाते थे।<sup>५</sup> उपासकदशाङ्ग में खेतों में हल चलाने अर्थात् भू-कर्षण को 'स्फोटकर्म' कहा गया है और इसे १५ कर्मादानों में से एक माना गया है।<sup>६</sup>

भू-कर्षण के बाद बीज-वपन विधि-पूर्वक कृषि का दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण था। जैन-ग्रन्थों में इसका प्रचुर उल्लेख है। स्थानांग में चार प्रकार की खेती बतायी गई है<sup>७</sup> :

१. वापिता—धान्य को एक बार बो देना।

२. परिवापिता—दो-तीन बार करके धान्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रोपना।

१. उपासक०, पृ० २३; सूत्रकृतांग, ४. २. ७-१२.

२. औपपातिक सूत्र १; आवश्यकटीका ( हरिभद्र ), ६४७, पृ० ४२६.

३. उत्तराध्ययन-टीका २, पृ० ४५.

४. उत्तराध्ययन-टीका २, पृ० ७८.

५. मधु नारंग, ए कल्चरल स्टडी आफ़ निशीथचूर्णि ( अप्रकाशित शोध-ग्रन्थ ), पृ० २३३-३४.

६. उपासकदशाङ्ग १, पृ० ११.

७. स्थानांग, ४. ३५५.

३. निदिता—खेतों की घासादि निराकर धान्य बोना ।

४. परिनिदिता—दो-तीन बार घासादि निराना ।

कुछ फसल जैसे—मक्का, धान आदि के बोने का उपयुक्त समय वर्षा-ऋतु बताया गया है । वर्षा होने पर छोटी-छोटी क्यारियाँ बनाकर चावलों ( शालि-अक्षत ) को खेतों में बोया जाता, फिर दो-तीन बार करके उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर रोपते तथा खेत के चारों ओर बाड़ लगाकर उनकी रक्षा करते थे ।<sup>१</sup>

बीज बो देने के पश्चात् उनमें अंकुर आने तथा पौधों के कुछ बड़े ही जाने पर किसान खेतों की निराई-गुड़ाई तथा सिंचाई करता था । निराई पौधों के चतुर्दिक् उगे घास-फूस तथा मोथों को कुदाला से साफ करके की जाती थी ।<sup>२</sup> सिंचाई के लिए कृषक प्राकृतिक तथा कृत्रिम दोनों जल-स्रोतों यथा—वर्षा, कूप, सरिता, आसार और आप्लावन आदि का उपयोग करते थे ।<sup>३</sup>

कुछ समय बाद जब हरे-हरे धान्य पक जाते, उनकी मस्तगंध सर्वत्र फैलने लगती, उनमें दूध भर जाता, फल लग जाते और वे पीले पड़ जाते तो किसान उन्हें तीक्ष्ण दतियाँ से काट लेते थे । जैन-साहित्य में दतियाँ अथवा हंसियाँ को 'असिसहि' कहा गया है ।<sup>४</sup> काट लेने के बाद फसलों को बलगाड़ी से ढोकर खल्यभूमि ( खलिहान ) में एकत्रित किया जाता था । सूत्रकृताङ्ग में खल्य को 'पिनाकपिन्डी' कहा गया है ।<sup>५</sup> खल्य-भूमि से धान्यों को उठाकर घर ले जाते, जहाँ खाने से पूर्व कुछ खाद्यानों का अवहनन किया जाता था । अवहनन के लिए उलूखल बने होते थे, जिन्हें गंजशाला कहा जाता था । गंजशाला में धान्यों के कूटने और ओखली में चावलों के छड़ने के उल्लेख जैन-साहित्य में आये हैं ।<sup>६</sup> कूटे एवं छड़े हुए धान्यों को सूप से फटककर साफ कर लेते थे । सूप के लिए जैन-साहित्य में 'सुप्त-

१. जगदीशचन्द्र जैन, जैन-आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १२२.

२. सूत्रकृताङ्ग, २. २. ११.

३. बृहत्कल्पभाष्य, १. १२. ३६.

४. नायाषम्मकहा, ७. ८६.

५. सूत्रकृताङ्ग, २. ६. २६.

६. निशीथचूर्णि, ६. ७.

कन्तर' शब्द आया है<sup>१</sup> और इसका आकार हाथी के कान की भांति बताया गया है।<sup>२</sup> निशीथचूर्णि में धान्य के पकने, काटने तथा ओसाने की सम्पूर्ण क्रियाएं क्रमशः लुत, मलित और पुट शब्दों द्वारा व्यक्त की गई हैं।<sup>३</sup>

कृषकों द्वारा निर्मित धान्यागारों का उल्लेख भी जैन-ग्रंथों में हुआ है। धान्यों को साफ करने के पश्चात् उन्हें कोरे घड़ों में भरकर तथा घड़ों को लीप-पोतकर और उनपर मुहर लगाकर कोठार (कोष्ठागार) में रख दिया जाता था।<sup>४</sup> वर्षा काल में अधिक सुरक्षा की दृष्टि से अनाज को मिट्टी अथवा बांस के बने हुए कोठों, बांस के खम्भों (मंच) पर बने हुए कोठों, अथवा घर के ऊपर बने हुए कोठों में रखा जाता तथा द्वार पर लगाए जाने वाले ढक्कन को गोबर से और फिर उसे चारों तरफ से मिट्टी से पोत दिया जाता था।<sup>५</sup> इसके अतिरिक्त घर से बाहर जंगलों में भी कोठारों के निर्माण का उल्लेख मिलता है।<sup>६</sup> संबाध और संबाह नामक पर्वत के विषम प्रदेशों में बने हुए कोष्ठागार संभवतः इसी कोठि के कोठार थे।<sup>७</sup> कोष्ठागारों के निर्माण में कृषकों का उद्देश्य संभवतः संचित खाद्यान्नों का आपत्तिकालीन उपयोग था। व्यवहारभाष्य में उल्लेख है कि किसी समय कोशल देश में पड़े हुए भयंकर अकाल की स्थिति में पहले से ही अपने कोष्ठागार में प्रचुर अनाज संगृहीत किए हुए किसी श्रावक ने वहाँ ठहरे हुए आपद्ग्रस्त जैनभिक्षुओं के लिए सामयिक आहार की व्यवस्था कर दी और उन्हें अन्यत्र विहार नहीं करने दिया। लेकिन कुछ समय बाद अनाज का दाम महंगा हो जाने पर लोभ में आकर उसने अनाज की ऊंची कीमत पर बेच दिया। ऐसी हालत में जैन-साधुओं को भोजन-पान के

१. उपासक० २, पृ. २३; सूत्रकृतांग, ४.२.७-१२.

२. ए कल्चरल स्टडी आफ निशीथचूर्णि, पृ. २३४ (मधु नारंग का अप्रकाशित शोध-प्रबंध).

३. वही, पृ. २३४.

४. ज्ञातृधर्मकथा ७, पृ. ८६.

५. जगदीशचन्द्र जैन, जैन-आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. १२२-२३.

६. बृहत्कल्पभाष्य, २. ३२६८.

७. वही, १. १०६२.

अभाव में संलेखना करने के लिए बाध्य होना पड़ा और उनके मृत-शरीर को गीध भक्षण कर गए।<sup>१</sup> धान्यों को कोटि-कुम्भों में भरकर संचित करने वालों को 'नैयतिक' कहा गया है।<sup>२</sup>

**भूमि (भू-विभाजन) :** कृषि की दृष्टि से भूमि का यथोचित विभाजन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पूरे कृषि-कर्म की सफलता ही इसके समुचित चयन पर निर्भर करती है। जैन-साहित्य में भूमि की अनेक किस्मों तथा उनकी विशेषताओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। भगवतीसूत्र में भूमि के मुख्यतः तीन प्रकार बताए गए हैं<sup>३</sup> :

१. क्षेत्र—कृषि अथवा खेतिहर भूमि ।

२. उद्यान—बगीचे ।

३. जंगल—इसे अटवी, वन तथा कन्तरा भी कहा गया है ।

उत्पादन की दृष्टि से आवश्यकचूर्णि में हल्य-भूमि को दो भागों में बाँटा गया है<sup>४</sup> :

१. उद्घात—काली अथवा उपजाऊ भूमि ।

२. अनुद्घात—पथरीली अथवा अनुपजाऊ भूमि ।

काली (उद्घात) भूमि में अत्यधिक वर्षा होने पर भी पानी वहीं का वहीं रह जाता था, बहता नहीं था,<sup>५</sup> जब कि पथरीली (अनुद्घात) भूमि में यह विशेषता नहीं थी ।

खेतिहर भूमि के साथ बहुधा चरागाह, उद्यान तथा जंगलों के उल्लेख निकटता के अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से भी विशिष्ट स्थान रखते हैं। जैन टीकाकार अभयदेवसूरि के विचार से, खेतिहर भूमि की माँग बढ़ने पर वन-भूमि को कृषि-भूमि में बदलने के लिए जङ्गलों को जला दिया जाता था।<sup>६</sup> जङ्गलों को जलाकर खेती करने का उल्लेख बृहत्कल्पभाष्य में भी हुआ है।<sup>७</sup>

१. व्यवहारभाष्य, १०. ५५७-६०.

२. वही, १. १३१.

३. जे० सी० सिकदार, स्टडीज इन भगवतीसूत्र, पृ. २७१.

४. आवश्यकचूर्णि २, पृ. ७७.

५. बृहत्कल्पभाष्य-पीठिका, पृ. ३३८.

६. उपासक० ५१.

७. बृहत्कल्पभाष्य, ४. ४८६१.

इसके अतिरिक्त जङ्गलों में धान्यागार बनाने के उल्लेख भी मिले हैं, जो खुले तथा विस्तृत स्थल एवं अधिक सुरक्षा के वातावरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे ।

**सिंचाई :** उत्तम पैदावार के लिए फसलों को खींचना अत्यावश्यक था । यद्यपि यह कार्य अधिकांशतः इस देश के प्रति चिरदयामयी प्रकृति द्वारा स्वयं हो जाता था, तथापि यदा-कदा समयानुकूल तथा पर्याप्त वर्षा के अभाव में कृषकों को स्वयं इसकी व्यवस्था करनी पड़ती थी । जलवायु तथा प्राकृतिक स्थिति के अनुसार अलग-अलग स्थलों पर सिंचाई के अलग-अलग साधन थे । बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि लाट देश में वर्षा से, सिन्धु देश में नदी से, द्रविण देश में तालाब से, उत्तरापथ में कुओं से और डिम्भरेलक में महिरावण की बाढ़ से सिंचाई की जाती थी । काननद्वीप में नावों पर धान रोपे जाते थे ।<sup>१</sup> इस प्रकार सिंचाई के प्राकृतिक एवं कृत्रिम इन दो जल-स्रोतों के आधार पर खेत भी दो भागों में बंटे हुए थे—(१) केतु और (२) सेतु ।

**बीज :** जैन-साहित्य में धान्यों के बीजों की अंकुरन-क्षमता बनाए रखने के लिए कृषकों द्वारा की जानेवाली पर्याप्त व्यवस्था का उल्लेख है । एतदर्थ कोठारों का वर्णन आया है जिनके खुले वातावरण में सुरक्षात्मक ढंग से निर्मित होने का संकेत पीछे किया जा चुका है । इन कोठारों का रूप आधुनिक गोदामों जैसा रहा होगा, जिनमें संगृहीत धान्यों का उपयोग बौने तथा यदा-कदा आपत्काल में खाने के लिए भी होता रहा होगा । जैन आगम-साहित्य में ऐसे ही कुम्भी, करभी,<sup>२</sup> पल्लग, मुख, इदुर और औचार नामक कोठारों का उल्लेख है ।<sup>३</sup>

अहिंसा के परमपोषक जैन-धर्मावलम्बियों की दृष्टि में यद्यपि कृषि एक हिंसात्मक त्याज्य वृत्ति थी, तथापि उनका यह दृष्टिकोण संभवतः एक वर्ग-विशेष के लिए ही इस व्यवसाय को निषिद्ध ठहराना था, न कि पूरे कृषि

१. वही, १. १२. ३६.

२. बृहत्कल्पसूत्र, २. १० में मुँह के आकार की कोठी को कुम्भी और घट के आकार की कोठी को करभा कहा गया है ।

३. अनुयोगद्वारसूत्र, १३२.

उद्योग को ही निन्दनीय घोषित करना, और वह भी केवल इसलिए कि इस वृत्ति से साधकों के आध्यात्मिक विकास में बाधा पड़ सकती है। कालान्तर में धार्मिक बन्धनों के शिथिल होने पर जैन संघों एवं समितियों द्वारा जङ्गलों तथा झाड़ियों को काटकर विस्तृत भूखण्डों में कृषि करने के भी प्रमाण मिलने लगते हैं। जैन साहित्य में उल्लेख है कि बौद्ध परम्परा के श्रमण ग्रामदान आदि स्वीकार कर वहाँ की भूमि को ठीक करने के लिए हल-कुदाल आदि का प्रयोग करते थे।<sup>१</sup>

१. जैन-साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ. ६२.

( पृष्ठ ३६ का शेष )

वर्णन है। प्रसङ्गानुसार जैनधर्म और दर्शन पर भी प्रकाश डाला गया है। पुस्तक की भाषा सरल, सुबोध और सरस है। कागज एवं छपाई अच्छी है।

**नमस्कार चिंतामणि :** लेखक—मुनि श्री कुन्दकुन्द विजय, अनुवादक—चांदमल सीपाणी; प्रकाशक—श्री जिनदत्त सूरिमण्डल, दादावाड़ी, अजमेर (राज०); मूल्य—तीन रुपये पचास पैसे; पृ० २८० सजिल्द।

प्रस्तुत कृति में भी महामन्त्र की आराधना-विधि का विशद विवेचन है। महामन्त्र के प्रत्येक पद की विचारणा करते हुए लेखक ने मन्त्राराधन की योग्यता पर भी विचार किया है। यह कृति दो भागों में विभाजित है। पूर्वार्ध में महामन्त्र का प्रभाव, पंचपरमेष्ठी भगवन्तों के गुणों की स्तुतियाँ, मन्त्राराधन की रीति, जाप का तरीका, प्रकार तथा ध्यान की विधि का वर्णन है। उत्तरार्ध में साधना में उपस्थित विघ्नों को जीतने का उपाय, लक्ष नवकार जाप, नवकार तप की विधि, संथारा पोरिसी मूल आदि का वर्णन है। अन्त में संस्कृत भाषा में मन्त्राधिराज स्तोत्र, श्री ऋषिमण्डल स्तोत्र, श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ स्तोत्र संकलित हैं। महामन्त्र पर प्रकाशित सभी पुस्तकों में साङ्गोपाङ्ग विवेचन करने वाली निश्चय ही यह एकमात्र कृति है। इस पुस्तक के प्रकाशन से धार्मिक बन्धुओं को पूर्ण लाभ होगा। पुस्तक की भाषा सरल है। छपाईसफाई भी अच्छी है।

# राष्ट्रभाषा के आव्य जनक भगवान् महावीर

श्री रतिलाल म० शाह

आदि मानव जंगली था। पशु की तरह वह बहुधा अंतरप्रेरणा के वश होकर अपना जीवन यापन करता था। परंतु जब उसमें कुछ समझ आई तब वह दूसरों को अपना मनोभाव व्यक्त करने के लिये हाथ की चेष्टाओं से या किसी प्रकार के उच्चारण से काम चलाता था। बाद में एक ही प्रकार का उच्चारण शब्द बना और ऐसे शब्दों के व्यवस्थित रूप से भाषा बनती चली जिसने पीछे से स्थिर रूप धारण किया होगा।

आदि मानव युग में इस भाषा का रूप क्या था ? यह तो हम नहीं जान सकते। परन्तु आज दुनियाँ में ६००० से भी अधिक बोलियाँ चलती हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि जब आदि मानव भिन्न-भिन्न समूहों में बंटकर दुनियाँ में फैल गया होगा तब इन भिन्न-भिन्न समाजों ने अपनी-अपनी बोलियाँ निर्माण की होंगी। चाहे वे सभी आदि मानव युग की बोली से निकली हों या भिन्न-भिन्न भौगोलिक वातावरण या अन्य समाजों के संपर्क से बदलती हुई आज की परिस्थिति पर पहुँची हों।

दुनियाँ बड़ी विशाल होने के कारण भिन्न-भिन्न समाजों ने अपनी-अपनी धार्मिक मान्यता, संस्कृति, राजकारण, भौगोलिक रचना आदि कारणों से दुनियाँ के एक छोटे-मोटे टुकड़े को अपना राष्ट्र बना लिया है और उसमें परिस्थिति वश आज भी थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता रहता है।

भिन्न-भिन्न समाज, भिन्न-भिन्न बोलियाँ और भिन्न-भिन्न रीति-रस्में होने पर भी अपना विशाल भारत एक अलग राष्ट्र बना है और उसमें एक व्यापक संस्कृति विकसित होती रही है। परन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा, बोली, रीतिरस्में और पोशाक के कारण, भारत एक राष्ट्र होने पर भी

किसी संत, समाज सुधारक और राजनेता के संदेश को घर-घर व्यापी बनाने में बड़ी रुकावटें होती रही हैं और उसमें मुख्य रुकावट तो भाषा की है ।

विचार और भावना व्यक्त करने का वाहन भाषा होने के कारण, जहाँ एक वर्ग दूसरे वर्ग की भाषा को नहीं समझता वहाँ कोई भी धार्मिक संदेश, समाज-सुधार और राजकीय अनुशासन की भावना सर्वव्यापी रूप धारण नहीं कर सकती ।

इससे भिन्न-भिन्न समाज एक-दूसरे को समझ सके, पास में आकर एक-दूसरे से कुछ ले सके और देश के किसी भाग में उठे हुए नूतन संदेश को अपना सके, इसी दृष्टि से राष्ट्र की भाषा एक होनी चाहिए या सब समझ सकें ऐसी एक भाषा होनी चाहिये । इसी विचार से महात्मा गांधीजी और देश के अन्य नेताओं ने एक सर्वमान्य भाषा प्रस्थापित करने के लिए बड़ा प्रयत्न किया है ।

प्राचीन काल में सर्वसामान्य व्यवहार के लिये संस्कृत का और अद्यतन युग में अंग्रेजी का व्यवहार हुआ है । परन्तु वह पण्डित-विद्वान् और लिखे-पढ़े ऊपर के स्तर के लोगों तक ही सीमित बनने के कारण आम जनता तो ऐसे संदेश से बहुधा अपरिचित ही रहती है । और जो कुछ संदेश पहुँचता वह भी विकृत हुए बिना शुद्ध रूप में नहीं पहुँचता । परिणामतः लोगों में संस्कृत और असंस्कृत ऐसे दो विभाग पड़ जाते हैं, जिससे समाज का एक घटक रूप से उत्थान नहीं हो पाता और इससे धार्मिक एवं राजकीय आन्दोलनों को भी जैसी सफलता मिलनी चाहिए वैसी नहीं मिलती । आज के युग में भी यही रुकावट हमें परेशान कर रही है ।

इसी रुकावट को दूर करने के लिए आज के नेताओं ने जिस प्रकार एक अखण्ड राष्ट्रभाषा स्थापित करने का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी २५०० वर्ष पहले ऐसा ही प्रयोग किया था । अतः भगवान् महावीर और बुद्ध ने अपना धर्मसंदेश घर-घर व्यापी बनाने के लिए लोकभाषा का उपयोग किया था और उसे धर्मसंदेश का वाहन बना कर प्रतिष्ठित किया था ।

इस प्रकार भ० महावीर ने लोकभाषा की प्रतिष्ठा स्थापित की थी परन्तु इससे उन्हें पूर्ण सन्तोष नहीं था, क्योंकि उनका विहार मगध ( बिहार ) में होने से लोग अपनी लोकभाषा मागधी तो समझ सकते थे परन्तु शहरों में भिन्न-भिन्न प्रदेश के लोग भी बसते थे और भगवान् का

विहार अन्य प्रदेशों में भी होता रहता था। इसी वजह से सिर्फ मागधी का उपयोग करना पर्याप्त नहीं था। परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी लोग भी उसे समझ सकें और एक-दूसरे से सम्बन्ध भी बाँध सकें, ऐसी एक सर्व-सामान्य भाषा स्थापित करने का और उसे व्यापक बनाने का उनका मनोरथ था।

आज के युग में केवल 'खड़ी' बोली हिन्दी ही नहीं और अरबी छापवाली उर्दू भी नहीं, परन्तु इन दोनों के सहारे भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों और रूढ़िप्रयोगों को समाविष्ट करने और सामान्य जनता को बोलचाल या समझने में सरल हो ऐसी एक नूतन राष्ट्र-भाषा विकसित करने जैसा प्रयत्न है। भगवान् महावीर ने भी वैसा ही प्रयोग करके लोक-भाषा मागधी को अर्ध-मागधी बनाकर उसे राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रचलित किया था।

पंडित लोग इतना तो स्वीकार करते हैं कि सनपुरुष जहाँ-जहाँ विचरते हैं वहाँ की भाषा की मिलावट अपनी भाषा में सहज में होती रहती है, जिसे सरलता से लोग समझ सकते हैं। भ० महावीर भी अपने विहार-स्थानों में एक ऐसी सर्व-सामान्य भाषा का उपयोग कर रहे थे जिसका हेतु आज की भाषा में कहें तो एक अखंड राष्ट्र-भाषा प्रस्थापित करने का था।

पण्डितगण कहेंगे कि एक अखण्ड राष्ट्र के रूप में देश का कोई विचार ही उस युग में नहीं करता था—इससे महावीर ने या किसी ने उस युग में राष्ट्रभाषा का विचार किया हो यह शंकास्पद है। आज के राष्ट्र के दृष्टिबिन्दु से विचारें तो पंडितों की बात ठीक है, और महावीर के 'राष्ट्र' के पीछे कोई स्पष्ट राजकारण न था। सामाजिक हेतु भी न हो, सिर्फ सत्य के अमर सन्देश को व्यापक रूप से प्रसारने की अनुकूलता ही ऐसी उनके 'राष्ट्र' के पीछे सिर्फ धार्मिक दृष्टि हो और उसी प्रकार राष्ट्र की भौगोलिक मर्यादा भी उनकी दृष्टि में कोई और ही। परन्तु एक बात तो है ही कि राष्ट्र और राष्ट्र के प्रति फर्ज का उन्हें पूर्ण भान तो था ही।

भगवान् कहते हैं कि 'जे नायगं च रट्टस्स हन्ता महामोहं पकुब्बई' (दशाश्रुतस्कंध) अर्थात् जो राष्ट्र का नेता है, उसकी जो मृत्यु उपजाता है वह भयंकर ऐसा महामोहनीय कर्म उपार्जन करता है। इसी प्रकार उनकी कल्पना में राष्ट्र की एक कल्पना तो थी ही। इसी वजह से उन्होंने राष्ट्रभाषा स्थापित करने का ख्याल रखा होगा, यह बात समझना कठिन नहीं है।

राष्ट्र-भाषा के बारे में दिगम्बर शास्त्र खूब उपयोगी बात बनाते हैं। दिगम्बर शास्त्रों के अनुसार भगवान् के अतिशयों का जो वर्णन मिलता है उसमें दूसरा अतिशय भाषा के बारे में है। उस पर टीकाकार कहते हैं कि 'अर्धं मगधदेशभाषात्मकं अर्धं च सर्वभाषात्मकं'—भगवान् आधी भाषा मागधी में और आधी भाषा दूसरी भाषाओं के समूहरूप में बोलते हैं, जिससे सभी लोग समझ सकते हैं। इसे हम अर्धमागधी कहते हैं।

दिगम्बर प्राचीन टीकाकारों के मत से पता चलता है कि भगवान् ने, सभी लोग समझ सकें, अपनी मातृभाषा मागधी को नया रूप दिया था जो उस जमाने में एक प्रकार की राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न था। टीकाकार आगे लिखते हैं कि इस नूतन भाषा को राष्ट्र-भाषा का वेग मिलने से भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी लोग एक-दूसरे को समझने लगे थे और इससे निकट में आने से मित्रता का संबंध स्थापित करने लगे थे। इससे अर्धमागधी लोकप्रिय और व्यवहारमूलक बन गई थी, साथ ही मित्रता स्थापित करने का आधार बन गई थी। बाद में यह अतिशय 'पारस्परिक मित्रता' के नाम से प्रचलित हो गया। दिगम्बर शास्त्रों में इस प्रकार 'पारस्परिक मित्रता' के अतिशय का जो वर्णन मिलता है वह सिद्ध करता है कि उस युग में भगवान् महावीर ने एक अखण्ड राष्ट्रभाषा निर्माण करने में और जगत् को एक नया प्रकाश देने में कैसा प्रयत्न किया होगा ?

श्वेतांबर शास्त्र भी यही बात बताते हैं कि 'अद्ध मागहाए भासाए भासंति अरिहा' अर्थात् तीर्थंकर भगवान् अर्धमागधी में ही बोलते हैं। और अर्धमागधी क्या है? उसका रूप समझने के लिए वे कहते हैं कि 'अठारह देसी भासाणियतं अद्धमागहं' अर्थात् उस युग में चलती अठारह देसी भाषाओं के शब्द और रूढ़ि प्रयोगों के मिलान से मागधी को अर्धमागधी बनाई गई थी। इससे राष्ट्र के भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी लोग उसे समझने लगे थे। इस प्रकार अर्धमागधी के पीछे चाहे जो हेतु हो परन्तु एक बात तो है कि वह राष्ट्रभाषा के रूप में विकसित होने लगी थी। इन टीकाकारों से यह भी पता चलता है कि उस युग में देश में अठारह देशी भाषाएँ चलती थीं।

इन सब बातों से कहा जा सकता है कि राष्ट्रभाषा के विचार के आद्य-स्थापक भगवान् महावीर थे।

# विश्वेश्वरकृत शृंगारमंजरी-सट्टक का अनुवाद

डा० के० आर० चन्द्र

( गतांक से आगे )

- राजा— महारानी, विजय अथवा पराजय शक्ति और अशक्ति ( सामर्थ्य-असामर्थ्य ) इन दोनों में से किसी एक के द्वारा सोध्य होता है। उसका यथार्थ कथन ( निश्चय ) करना पुनः मध्यस्थों का अधिकार ( कार्य ) है ॥२७॥
- विदूषक— तो मेरी एक अभिलाषा पूरी कर दो।
- देवी— आर्य कहें।
- विदूषक— चूंकि महारानी और महाराज हमारी परीक्षा करने में समर्थ हैं फिर भी महारानी के द्वारा वसन्ततिलका का और महाराज के द्वारा मेरा पक्षपात होना सम्भव है। सभी अन्तःपुरवासी मेरे ऊपर बहुत जोर से द्वेष करते हैं। अतः मध्यस्थ बनने की आज्ञा अन्य की दी जाय।
- देवी— तुम्हारा विवाद अब किस विषय पर ( होगा ) ?
- विदूषक— रस के विषय पर ही।
- राजा— ( अपने आप ) ओह, प्रारम्भ किये गये कार्य ( की पूर्ति ) के लिए मित्र की साधन जुटाने की कुशलता।
- देवी— ( अपने आप ) निमूल विषय का यह कैसा दाहण ( भयंकर ) परिणाम ! कारण कि रस निरूपण में अभ्यस्त और अनेक बार परीक्षित शृंगारमंजरी अन्तःपुर में रहती है और वह अपूर्व सौंदर्य की खान है इसलिए वह मेरे द्वारा आर्यपुत्र के दृष्टिपथ से प्रयत्नपूर्वक बचायी जाती रही है। परन्तु आज यहाँ पर अन्य किसी की नियुक्ति योग्य नहीं। इनकी

परीक्षा करने के लिए मैंने वचन दिया है। अतिमूर्ख ब्राह्मण गौतम हमारे ऊपर विश्वास नहीं करता है। होने दो। मार्ग ही क्या है? ( लोगों के सामने माधविका के प्रति ) ए माधविके, शृङ्गारमंजरी को लेकर शीघ्र आओ।

राजा—

( अपने आप ) क्या प्रिय मित्र का प्रयोग फलदायी होगा ?

माधविका—

जैसी महारानी की आज्ञा ( चली जाती है। )

देवी—

आर्य, तब तक तुम्हारा वाद शुरू हो जाय।

राजा—

मित्र, महारानी के निर्देशानुसार किया जाए। तुम्हारी विद्या उक्ति को हम देखेंगे।

विदूषक—

( वसन्ततिलका से ) तो आप बतलाइये कि यह शृङ्गार क्या है और इसके कितने भेद हैं ?

वसन्ततिलका—तो उसका स्वरूप बतलाती हूँ।

विभाव, अनुभाव और संचारी भाव एक ही समय में उपस्थित ( जाग्रत ) होने पर आवरण-भंग हो जाने से अपने आत्म-स्वरूप में स्वयं प्रकट होने वाला आनन्द रति कहलाता है। रति ही जिसकी प्रकृति ( स्थायी भाव ) है वही शृङ्गार है।

विदूषक—

यदि ऐसा है तब तो रस एक ही होना चाहिए और उसके बहुत से प्रकार अनुपयुक्त हैं।

वसन्ततिलका—विभावादि के भेद ( भिन्नता ) के कारण उक्त दोष के लिए कोई स्थान नहीं है।

( माधविका के हाथ में अपना हाथ रखे हुए शृङ्गार-मंजरी प्रवेश करती है। )

शृङ्गारमंजरी—( अपने आप ) हे हृदय, शान्त हो, शान्त हो।

जिसके लिए ( तू ) अधीर है, भटकता है, क्षीण ( खिन्न ) होता है तथा जलता है उसके अलौकिक ( अनुपम ) दर्शन का महोत्सव अब आ गया है ॥२८॥

( सोचकर )

जो कि दूसरों के समक्ष विशेषता ( सूक्ष्मता ) पूर्ण दर्शन करना शक्य नहीं है तथापि समूह में आलम्बन का

विषय बनते हुए ( देखे जाने पर ) भी वह पुरुष ( राजा )  
( मेरे लिए ) आनन्दमय है ॥२६॥

( क्षणभर के लिए अन्तर्मुख होकर )

जिस विद्या की बहुत समय तक मैंने प्रयत्न-पूर्वक सेवा  
की वह आज प्रियजन के दर्शन की उत्पत्ति के कारण  
( कराने में सहायक बनने के कारण ) मुझे फलदायी ( सिद्ध )  
हुई ॥३०॥

माधविका— यह महाराज हैं । यह महारानी रूमलेखा हैं । तो प्रिय सखि,  
नजदीक आओ ।

शृंगारमंजरी—( राजा को देखकर )

जो कि प्रथम बार आज देखे जाने के कारण इनका सहवास  
तो सुलभ नहीं है फिर भी इनका मेरे प्रति प्रेम है यही  
विशेषता की बात है ॥३१॥ ( माधविका के हाथ का सहारा  
छोड़कर और नजदीक जाकर ) महारानी की जय हो,  
जय हो ।

देवी— इनके विवाद में मध्यस्थ बनकर यथार्थ कहोगी ।

शृंगारमंजरी—जैसी महारानी की आज्ञा ( राजा के सामने देखकर बैठ  
जाती है ) ।

राजा— ( अपने आप ) वाह ! मदन-देव के द्वारा अनुगृहीत हो गया ।

इस सुन्दरी के मेरी तरफ मोड़े गए अति प्रफुल्लित  
तिरछे ( दोनों तरफ घूमने वाले ), उत्सुकता से चंचल,  
शृंगारलीला से भ्रमणशील और किञ्चित् संकुचित बने इन  
नयनों ने मानो मेरा पान कर लिया है ॥३२॥

देवी— ( अपने आप ) लम्बे समय तक इनका एक ही स्थल पर साथ  
में रहना तो हमारे लिये अनुचित ( सिद्ध ) होगा । क्योंकि—

पहले से हमारे ही किसी अनुरोध के कारण लेशमात्र  
दर्शन से भी विवर्जित किए जाने वाले इन दोनों के नेत्र-  
युगल का संचालन अजीब प्रकार से हो रहा है जो मात्र  
तीक्ष्ण बुद्धि से अवगम्य है ॥३३॥

( प्रकट रूप में ) आर्यपुत्र, इनको विवाद करने दो । मैं पुनः

आर्यपुत्र के साथ आर्यपुत्र की आज्ञा के अनुसार भगवान् मन्मथ की पूजा के कार्य में लग जाती हूँ ।

राजा— ( अपने आप ) जिसके लिए हमारे द्वारा इतना सब प्रयास किया गया था वह सब मिल चुका, विवाद हो या न हो ॥३४॥  
( प्रकट में ) ऐसा ही हो । जैसी महारानी की आज्ञा ।

माधविका— महारानी, मन्मथ पूजा की सामग्री तैयार है ।

देवी— तो मैं अब वैसा ही करती हूँ ( उसी प्रकार अभिनय करती है ) ।

राजा— ( देखकर ) हे प्रिये, तुम्हारे द्वारा अपने हाथों अशोक के पुष्प समर्पित करने पर मदन भी क्षणभर के लिए विवेकहीन होकर मूढ़ बन गया ॥३५॥

और

अपने केशकलाप से धनुष की डोरी, नेत्रों से बाण, मुखकमल से धनुष और सुरभियुक्त श्वासोच्छ्वास से मलयामिल, मदन-देवता के ये सब हथियार, हे बालमृगाक्षि ! तूने संशयावस्था को पहुँचा दिए हैं । अधिक कहकर क्या करना है, वह तो स्वयं रति हैं ॥३६॥

वसन्तलिका—उसके ( शृंगार रस के ) दो भेद हैं—

संयोग और विप्रलंभ ।

विदूषक— वे किस प्रकार के हैं ।

वसन्तलिका—जहाँ पर नायक और नायिका एक-दूसरे का स्पर्श और दर्शनादि अनुभव करते हैं वह प्रथम प्रकार का और जहाँ पर एक-दूसरे का मिलन नहीं होता वह दूसरे प्रकार का ।

विदूषक— दूसरा प्रकार तो निर्वेद, जड़ता, व्याधि आदि ( संचारी ) भावों के जरिये अनुभव्य होने के कारण रति ( स्थायी ) भाव उत्पन्न करने वाला कैसे हो सकता है ?

वसन्तलिका—वहाँ पर भी रतिविशेष का अनुभव ( होता है और वही ) वस्तु का प्रमाण है ।

विदूषक— ( अपने आप ) मेरे विवाद का प्रयोजन समाप्त हो गया । अब इस उद्यम से बस । ( प्रकट में ) मैं तुम्हारे साथ नहीं बोलूँगा ।

वसन्ततिलका—क्यों नहीं बोलोगे ?

विदूषक— तुम्हारी पराजय में प्रतिष्ठा का लाभ नहीं ।

शृंगारमंजरी—सखि, उत्तर नहीं सूझने से इसका पराभव पर्याप्त है ।

विदूषक— ( राजा की ओर ) हे मित्र, मैंने तुम्हें छोड़कर जो दूसरे को मध्यस्थ बनाया उसका यह परिणाम आया ।

राजा— ( अपने आप ) सच, उसका ऐसा परिणाम ? जिसके कारण मेरे दोनों नयन अमृत सरोवर में डूब गए, रोमांचांकुरों के खिलने से मेरा शरीर असमतुल हो गया और मेरी आत्मा ने सभी अन्य विषयों के ज्ञान से जो शून्य है ऐसे ब्रह्मानन्द का अनुभव किया ॥३७॥

( प्रकट में ) मित्र, अनुचित आग्रह करने पर प्रायः ऐसे ही परिणाम आते हैं ।

देवी— ( शृंगारमंजरी से ) तुम्हारा यहाँ आने का प्रयोजन पूरा हो गया इसलिये अब पहले कहा गया कार्य किया जाए ।

शृंगारमंजरी—( अपने आप ) क्या पूरा हो गया ? जबकि भयपूर्वक खुलते हुए बड़े-बड़े नेत्रों से अति आश्चर्य के साथ प्रिय के दर्शन किए गए और उसने कितनी ही स्नेह-विलक्षण शृंगार चेष्टाओं से मेरा स्पर्श किया ॥३८॥

( प्रकट में ) जैसी महारानी की आज्ञा । ( वहाँ से चली जाती है । )

( महारानी और राजा पुष्पों से अपनी अंजलि भरकर एक-दूसरे के पूजन का अभिनय करते हैं । )

राजा— ( अपने आप ) प्रेम चेष्टाओं की कल्पलता वह अब मेरे दृष्टिपथ को छोड़कर क्षणभर में चल दी और अभी ही क्रोध से दूषित मदन-देव के बाणों के समूह के समान फूलों का जत्था मेरे ऊपर आ पड़ा ॥३९॥

( प्रकट में ) हे देवि,

इस समय तो सिंदुवार की सुन्दर कली रूपी मोतियों से, अशोक-पुष्प रूपी शोभायमान लाल माणिक्यों से और दीर्घकाय निश्चल भ्रमर रूपी इन्द्रनीलमणि की माला से

सुशोभित तुम मानो अन्य आश्चर्यमय संजीवनीलता के समान  
लग रही हो ॥४०॥

( नेपथ्य में )

जिसने पितामह को भी अपनी ही कन्या की अभिलाषा करने  
के कारण दुष्टत्व तक पहुँचाया, जिसने केशव को गोपियों के  
अधरामृतरस के पान के लिए ललचाया और जिसने रुद्र  
भगवान् को श्रेष्ठ मुनिजनों की गृहिणियों के रास्ते में ( नग्न-  
रूप में ) खड़ा कर दिया वह पुष्पमय तीरवाला ( मदन-देव )  
भगवान् आपको सुखदायी हो ॥४१॥

देवी—

तो आर्यपुत्र महल को सुशोभित करें ।

राजा—

जैसी महारानी की आज्ञा ।

( सभी घूमकर चले जाते हैं । )

॥ द्वितीय यवनिका समाप्त ॥

( क्रमशः )





**प्राकृत प्रोपर नेम्स** : डॉ० मोहनलाल मेहता व डॉ० के० रिषभचन्द्र; प्रकाशक—ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद-६; भाग प्रथम, खण्ड प्रथम, सन् १९७०, मूल्य ३२ रुपये; भाग प्रथम, खण्ड द्वितीय, सन् १९७२, मूल्य ३५ रुपये; पृ० १०१४ ।

प्रस्तुत शब्दकोश में आगमग्रन्थों के लगभग ८००० व्यक्तिवाची प्राकृत शब्दों को संगृहीत किया गया है। ये शब्द न केवल मूल आगमग्रन्थों से ही लिये गये हैं अपितु उन पर लिखी गई प्राकृत नियुक्तियों, भाष्यों तथा चूणियों से भी। यद्यपि संस्कृत टीकाएँ इसमें सम्मिलित नहीं हैं परन्तु जहाँ-कहीं भी आवश्यक समझा गया है वहाँ उनकी सहायता अवश्य ली गई है। व्यक्तिवाचक शब्दों के अतिरिक्त इसमें जातिवाचक शब्द जैसे तित्थंकर, चक्कवत्ति आदि भी सम्मिलित हैं। वैसे यह कोश पूर्णतः जैन ग्रन्थों पर ही आधारित है पर भौगोलिक नामों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए अन्य स्रोतों का भी सहारा लिया गया है। पाठक की सुविधा के लिए प्राकृत शब्दों के सामने कोष्ठक में उनका संस्कृत रूपान्तर भी दे दिया गया है जिससे कोश को समझने में काफी मदद मिलेगी। अनुक्रमणिका के होने से यह कोश और भी उपादेय है।

पुस्तक की छपाई साफ और साज-सज्जा मनोहर है। ऐसी पुस्तक को प्रकाश में लाने के लिए लेखक, संपादक व प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

**न्यू केटेलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेनुस्क्रिप्ट्स, जैसलमेर कलेक्शन** : मुनि श्री पुण्यविजय; प्रकाशक—ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद-६; प्रथम संस्करण, अगस्त १९७२; मूल्य ४० रुपये; पृ० संख्या ३५ + ४७१ ।

प्रस्तुत कृति में जैसलमेर स्थित जैन ज्ञान भण्डारों के २६६७ ताड़पत्रीय एवं कागजीय हस्तलिखित ग्रन्थों को उनके नाम, कर्ता, भाषा, रचनाकाल (अज्ञात रहने पर अनुमानित समय), माप आदि के साथ सूचीबद्ध किया

गया है। इसमें जैन, ब्राह्मण और बौद्ध तीनों परम्पराओं के महत्त्वपूर्ण एवं दुर्लभ ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त काव्य, छन्द, अलंकार, ज्योतिष आदि विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं।

संग्रहकर्ता ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रारम्भिक और अन्तिम अंश तथा ग्रन्थप्रशस्ति भी दे दी है जिससे तत्संबन्धित विषयों में रुचि रखनेवाले काफी लाभ उठायेंगे। इस सूची के छः परिशिष्ट बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और शोधितसुओं के लिए बहुत ही सहायक सिद्ध होंगे। गुजराती में लिखित पुस्तक की प्रस्तावना भी पठनीय है। इसकी छपाई साफ और आवरण ठीक है। इस पुस्तक को प्रकाश में लाने के लिए प्रकाशक, संपादक एवं लेखक को अनेक बधाइयाँ।

**जैन धर्म में तपः स्वरूप और विश्लेषण :** मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज; प्रकाशक—महधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर-व्यावर; प्रथम संस्करण १९७२; मूल्य १६-रुपये; पृ० संख्या ३० + ५८०।

प्रस्तुत कृति में तप के विषय में काफी सामग्री एकत्रित की गई है। यद्यपि इसमें अधिकांशतः जैन साहित्य में वर्णित तप की ही चर्चा है तथापि विषय के विशद विवेचन के लिए जैनेतर साहित्य का भी उपयोग किया गया है जिससे यह कृति अधिक प्रामाणिक एवं उपादेय बन सकी है। ग्रन्थ-संपादन में श्री श्रीचन्द सुराना 'सरस' सफल हैं। इसकी भाषा-शैली सरल एवं सुबोध है। मुद्रण साफ और आवरण आकर्षक है। जनमानस द्वारा इस पुस्तक का अच्छा स्वागत होगा, ऐसी हमें आशा है।

**महामन्त्र की अनुप्रेक्षा :** लेखक—पं० भद्रंकर विजय गणिवर; प्रकाशक—मंगल प्रकाशन मन्दिर, कड़ी (उ० गुज०); मूल्य—दो रुपये पचास पैसे; पृष्ठसंख्या ५६ + ६४ + ७२ अश्लिष्ट।

जैन परम्परा में महामन्त्र ( णमोकार मन्त्र ) को समस्त विद्याओं का बीज कहा है। इस मन्त्र मात्र की आराधना से सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं और भव बन्धन से जीव मुक्त हो जाता है। प्रस्तुत कृति में लेखक ने जैन परम्परा में बहुप्रचलित इस महामन्त्र की अचिन्त्य शक्ति पर प्रकाश डालते हुए उसकी साधना-विधि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। इसमें तीन किरण ( अध्याय ) हैं। प्रथम और द्वितीय किरण में महामन्त्र का प्रभाव और उसका तात्त्विक विवेचन है। तृतीय किरण में साधना-विधि का

( शेष पृष्ठ २७ पर )

**V A R D H M A N**

**VSM**

**Quality Hosiery Cotton Yarn**

*For*

● **BETTER STRENGTH**

● **ELEGANCE**

● **ECONOMY**

**Exporting Cotton Yarn to Eastern &  
Western Countries**



*Manufactured by :*

**VARDHMAN SPINNING & GENERAL MILLS LTD.**

**LUDHIANA ; ; INDIA**

**Gram : "VARDHMAN"**

**Tele : 460.**

**4802**

*F O R*  
**DRAUGHTSMEN AND ENGINEERS**

**REKHA DELUXE**

**DRAWING PENCILS EQUAL TO THE  
WORLD'S BEST**



*Manufactured by :*  
**LION PENCILS PRIVATE LIMITED**  
**'PARIJAT', 95, MARINE DRIVE**  
**B O M B A Y—2**

## हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

### 1. Jaina Psychology—

Dr. Mohan Lal Mehta—Rs. 8-00  
( Out of Print )

### 2. Political History of Northern India from Jaina Sources—Dr. Gulab Chandra Choudhary—Rs. 24-00

### 3. Studies in Hemacandra's Desinama-mala—Dr. Harivallabh C. Bhayani—Rs. 3-00

### 4. Jaina Culture—Dr. Mohan Lal Mehta—Rs. 10-00

### 5. Jaina Philosophy—Dr. Mohan Lal Mehta—Rs. 10-00

६. प्राकृत भाषा—डा० प्रबोध बेधरदास पंडित— ६० १-५०
७. जैन आचार—डा० मोहनलाल मेहता— ६० ५-००
८. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग १—  
पं० बेचरदास दीशी— ६० १५-००
९. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग २—  
डा० जगदीशचन्द्र जैन व डा० मोहनलाल मेहता— ६० १५-००
१०. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग ३—  
डा० मोहनलाल मेहता— ६० १५-००  
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
११. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग ४—  
डा० मोहनलाल मेहता व प्रो० हीरालाल कापड़िया—६० १५-००
१२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग ५—  
पं० अंबालाल शाह— ६० १५-००
१३. बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन—  
डा० कोमलचन्द्र जैन— ६० १५-००
१४. जीवन-दर्शन—श्री गोपीचन्द्र भाड़ीवाल— ६० ३-००
१५. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—डा० गोकुलचन्द्र जैन—६० २०-००  
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
१६. उत्तराध्ययन-सूत्र : एक परिशीलन—डा० सुदर्शनलाल जैन—६० २५-००  
( उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत )
१७. जैन-धर्म में अहिंसा—डा० ब्रशिष्ठनारायण सिन्हा— ६० २०-००

—लिखिए—

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

जैन इंस्टिट्यूट

आई. टी. आई. रोड, बाराणसी-५

## अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. Lord Mahavira—Dr. Bool Chand	5.00
2. Hastinapura—Dr. Amar Chand	3.00
3. World Problems & Jaina Ethics—Dr. Beni Prasad	0.50
4. Jainism : The Oldest Living Religion—Dr. J. P. Jain	2.00
5. Mahavira—Dr. Amar Chand	0.50
6. Studies in Jaina Art—Dr. U. P. Shah	10.00
7. Jainism in Indian History—Dr. Bool Chand	0.50
8. Progress of Prakrit and Jaina Studies—Dr. B. J. Sandeasra	1.00
9. Jaina Monastic Jurisprudence —Dr. S. B. Deo	3.00
10. An Early History of Orissa—Dr. Amar Chand	21.00
11. Literary Evaluation of Paumacariyam—Dr. K. R. Chandra	2.00
१२. जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा—पं० दलसुख मालवणिया	०.५०
१३. जैन संस्कृति का हृदय—पं० सुखलालजी	०.५०
१४. अन्तर्निरीक्षण—पं० सुखलालजी	०.५०
१५. जैन साहित्य की प्रगति—पं० सुखलालजी	१.००
१६. भगवान् महावीर—पं० दलसुख मालवणिया	०.५०
१७. आत्ममीमांसा—पं० दलसुख मालवणिया	२.००
१८. जैन अध्ययन की प्रगति—पं० दलसुख मालवणिया	०.५०
१९. गुजरात का जैनधर्म—श्री जिनविजयजी	१.००
२०. जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार—श्री फतहचन्द बेलानी	२.००
२१. भारत के प्राचीन जैन तीर्थ—डा० जगदीशचन्द्र जैन	२.००
२२. हिन्दू, जैन और हरिजन मन्दिर प्रवेश—श्री पृथ्वीराज जैन	१.००
२३. जीवन में स्याद्वाद—श्री चन्द्रसंकर शुक्ल	१.००
२४. हेमचन्द्राचार्य का शिष्यमण्डल—डा० भोगीलाल सांढेसरा	०.५०
२५. मगध—श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'	१.००
२६. सुवर्णभूमि में कालकाचार्य—डा० उमाकान्त शाह	१.००
२७. स्वाध्याय—महात्मा भगवानदीन	२.००
२८. महाभाष्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन—डा० भोगीलाल सांढेसरा	४.००

—लिखिए—

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

जैन इंस्टिट्यूट

आई. टी. आई. रोड, वाराणसी-५

## **Presrite**

**U. F. & M. F. moulding  
Powders**

## **Prescol**

**U. F. synthetic resins**

## **Plastic Moulds**

**for injection &  
compression moulding**



**The  
Quality Tag  
Renowned Throughout  
the Country**

Nuchem-3

Edited and Published by Dr. Mohan Lal Mehta,  
Director, P. V. Research Institute, Varanasi -5.  
Printed at Arun Press, B.17/2 Tilbhandeshwar, Varanasi.